को अपने चारों तरफ़ एक सर्व व्यापी शक्ति, एक विराट् आत्मा का अनुभव हो रहा था। प्रति क्षण उन की कल्पना सजग और प्रदीप्त होती जाती थी। अपने जीवन की घटनाएं ज्वाला शिखा बनकर उस घर की ओर, उस मंगल और आनन्द के निवास-भवन की ओर दौड़ती हुई जान पडती थीं मानों उसे निगल जाएंगी।

पूर्व की ओर आकाश अरुण वर्ण हो रहा था। जीवन-दास की आंखें भी अरुण थीं। वे घर से निकले। हाथ में एक धोती थी। उन्होंने अपने अनिष्टमय अस्तित्व को मिटा देने का निश्चय कर लिया था। अपनी पापाग्नि की आंच से अपने परिवार को बचाने का संकल्प कर चुके थे। प्राण प्रण से अपने आत्म शोक और हृदय-दाह को शान्त करने पर उद्यत हो गए थे।

सूर्योदय हो रहा था। उसी समय जीवनदास गोमती की लहरों में समा गए।

बेटी का धन

(१)

बेतवा नदी दो ऊंचे करारों के बीच इस तरह मुंह छिपाए हुए थी जैसे निर्बल हृदयों में साहस और उत्साह की मध्यम ज्योति छिपी रहती है। इस के एक करार पर एक छोटासा गांव बसा है जो अपने भग्न जातीय चिह्नों के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। जातीय गाथाओं और चिह्नों पर मर मिटनेवाले लोग इस भग्न स्थान पर बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ आते और गांव का बूढ़ा केवट सुक्खू चौधरी उन्हें उस की परिक्रमा कराता और रानी के महल, राजा का दरबार और कुंवर की बैठक के मिटे हुए चिह्नों को दिखाता। वह एक उच्छ्वास लेकर रुंधे हुए गले से कहता। महाशय! एक वह समय था कि केवटों को मछलियों के इनाम में अशर्फियां मिलती थीं। कहार महल में झाड़ू देते हुए अशर्फियां बटोर ले जाते थे। बेतवा नदी रोज बढ़कर महाराज के चरण छूने आती थी। यह प्रताप और यह तेज था, परन्तु आज इस

दीवानखाने के पीछे एक पुष्प वाटिका थी। जीवनदास ऐसे चकित हो रहे थे मानों कोई तिलिस्म देख रहे हों!

(६)

रात्रि का समय था। बारह बज चुके थे। जीवनदास को किसी करवट नींद न आती थी। अपने जीवन का चित्र उन के सामने न था। इन पन्द्रह वर्षों में उन्होंने जो कांटे बोए थे वे इस समय उन के हृदय में चुभ रहे थे। जो गढ़े खोदे थे वे उन्हें निगलने के लिये मुंह खोले हुए थे। उन की दशा में एक ही दिन में घोर परिवर्तन हो गया था। अभक्ति और अविश्वास की जगह विश्वास का अभ्युदय हो गया था, और यह विश्वास केवल मानसिक न था, वरन् प्रत्यक्ष था। ईश्वरीय न्याय का भय एक भयंकर मूर्ति के सदृश उन के सामने खड़ा था। उस से बचने की अब उन्हें कोई युक्ति नजर न आती थी। अब तक उन की स्थिति उस आग की चिनगारी के समान थी जो किसी मरुभूमि पर पड़ी हुई हो। उस से हानि की कोई शंका न थी। लेकिन आज वह चिनगारी एक खलिहान के पास पड़ी हुई थी। मालूम नहीं कब वह प्रज्ज्वलित होकर खलिहान को भस्मीभूत कर दे।

ज्यों ज्यों रात गुजरती थी, यह भय ग्लानि का रूप धारण करता जाता था। "हा शोक! मैं इस योग्य भी नहीं कि इस साक्षात् क्षमा और दया को अपना कलुषित मुंह दिखाऊं।

उस ने मुझ पर सदैव करुणा और वात्सल्य की दृष्टि रक्खी, और यह शुभ दिन दिखाया। मेरी कालिमा उस की उज्ज्वल कीर्ति पर एक काला दाग़ है। मेरी कलुषता क्या इस मंगल चित्र को भी कलुषित न कर देगी। मेरी पापाग्नि के स्पर्श से क्या यह हरा उद्यान मटियामेट न हो जायगा? मेरी अपकीर्ति कभी न कभी प्रगट होकर इस कुल की मर्यादा और सम्मान को नष्ट न कर देगी? मेरे जीवन से अब किस को सुख है? कदाचित् भगवान् ने मुझे लज्जित करने के लिये, मुझे अपनी तुच्छता को अवगत करने के लिये, मेरे गले में अनुताप की फांसी डालने के लिये यह अद्भुत लीला दिखाई है। हा! इसी कुल की मर्यादा रक्षा के लिए मैंने भीषण हत्याएं की थीं? क्या अब जीवित रहकर इस की वह दुर्दशा कर दूं जो मर कर भी न कर सका? मेरे हाथ खून से लाल हो रहे हैं। परमात्मन्! वह खून रंग न लाए। यह हृदय पापों के कीटाणु से जर्जर हो रहा है। भगवन्, यह कुल उस के छूत से बचा रहे"

इन विचारों ने जीवनदास में ग्लानि और भय के भावों को इतना उत्तेजित किया कि वह विकल हो गए। जैसे परती भूमि में बीज का असाधारण विकास और प्रसार होता है, उसी तरह विश्वास-हीन हृदय में जब विश्वास का बीज पड़ता है तो उस में सजीवता और विकास का प्रादुर्भाव होता है। उस में विचार के बदले व्यवहार का प्राधान्य होता है। आत्म-समर्पण उस का विशेष लक्ष्य होता है। जीवनदास

था कि जिस ज़बान में हाकिमों के प्रसन्न करने की शक्ति है क्या वह ठाकुर साहब को अपना लक्ष्य न, बना सकेगी? इधर तो बूढ़े चौधरी अपने गर्व में निश्चिन्त थे और उधर उन पर बक़ाया लगान की नालिश ठुक गई, सम्मन आ पहुंचा, दूसरे दिन पेशी की तारीख पड़ गई, चौधरी को अपना जादू चलाने का अवसर न मिला।

जिन लोगों के बढ़ावे में आकर सुक्खू ने ठाकुर से छेड़ छाड़ की थी उन का दर्शन मिलना दुर्लभ हो गया। ठाकुर साहब के सहने और प्यादे गांव में चील की तरह मंडराने लगे। उन के भय से किसी को चौधरी की परछाहीं काटने का साहस न होता था। कचहरी यहां से तीन मील पर थी। बरसात के दिन, रास्ते में ठौर ठौर पानी और उमड़ी हुई नदियां, रास्ता कच्चा, बैलगाड़ी का निबाह नहीं, पैरों में बल नहीं, अतः अदम पैरवी में मुकदमा एक तरफ़ा फैसला हो गया।

(३)

कुर्क़ी का नोटिस पहुंचा तो चौधरी के हाथ पांव फूल गए। सारी चतुराई भूल गई। चुपचाप अपनी खाट पर पड़ा पड़ा नदी की ओर ताकता और अपने मन में कहता, क्या मेरे जीते ही जी घर मिट्टी में मिल जायगा। मेरे इन बैलों की सुन्दर जोड़ी के गले में आह! क्या दूसरों का जुआ पड़ेगा? यह सोचते सोचते उसकी आंखें भर आतीं। वह

बैलों से लिपट कर रोने लगता, परन्तु बैलों की आंखों से क्यों आंसू जारी थे ? वे नांद में मुंह क्यों नहीं डालते थे ? क्या उन के हृदय पर भी अपने स्वामी के दुःख की चोट पहुंच रही थी ?

फिर वह अपने झोंपड़े को विकल नयनों से निहार कर देखता। और मन में सोचता, क्या हम को इस घर से निकलना पड़ेगा ? यह पूर्वजों की निशानी क्या हमारे जीते जी छिन जायगी।

कुछ लोग परीक्षा में दृढ़ रहते हैं और कुछ लोग इसकी आंच भी नहीं सह सकते। चौधरी अपनी खाट पर उदास पड़े पड़े घण्टों अपने कुलदेव महावीर और महादेव को मनाया और उन का गुण गाया करता। उस की चिन्तादग्ध आत्मा को और कोई सहारा न था।

इस में कोई सन्देह न था कि चौधरी की तीनों बहुओं के पास गहने थे, पर स्त्री का गहना ऊख का रस है, जो पेरने ही से निकलता है। चौधरी जाति का ओछा पर स्वभाव का ऊंचा था। उसे ऐसी नीच बात बहुओं से कहते सङ्कोच होता था, कदाचित् यह नीच विचार उस के हृदय में उत्पन्न ही नहीं हुआ था, किन्तु तीनों बेटे यदि जरा भी बुद्धि से काम लेते तो बूढ़े को देवताओं की शरण लेने की आवश्यकता न होती। परन्तु यहां तो बात ही निराली थी। बड़े लड़के को घाट के काम से फुरसत न थी। बाकी दो

लड़के इस जटिल प्रश्न को विचित्र रूप से हल करने के मंसूबे बांध रहे थे।

मंझले झींगुर ने मुंह बनाकर कहा उंह! इस गांव में क्या धरा है। जहां ही कमाऊंगा वहीं खाऊंगा। पर जीतन-सिंह की मूछें एक एक करके चुन लूंगा।

छोटे फक्कड़ ऐंठकर बोले, मूछें तुम चुन लेना। नाक मैं उड़ा दूंगा। नककटा बना घूमेगा।

इस पर दोनों खूब हंसे और मछली मारने चल दिये।

इस गांव में एक बूढ़े ब्राह्मण भी रहते थे। मन्दिर में पूजा करते नित्य अपने यजमानों को दर्शन देने नदी पार जाते, पर खेवे के पैसे न देते। तीसरे दिन वह जमींदार के गुप्तचरों की आंख बचा कर सुक्खू के पास आए और सहानुभूति के स्वर में बोले, चौधरी! कल ही तक मियाद है और तुम अभी तक पड़े पड़े सो रहे हो। क्यों नहीं घर की चीज़ वस्तु ढूंढ़ ढांढ़ कर किसी और जगह भेज देते? न हो समधियाने भेज दो। जो कुछ बच रहे वही सही। घर की मिट्टी खोद कर थोड़े ही कोई ले जायगा।

चौधरी लेटा था, उठ बैठा, और आकाश की ओर निहार कर बोला—जो कुछ उस की इच्छा है वह होगा। मुझ से यह जाल न होगा।

इधर कई दिन की निरन्तर भक्ति और उपासना के कारण चौधरी का मन शुद्ध और पवित्र हो गया था। उसे

छल प्रपञ्च से घृणा उत्पन्न हो गयी थी। पण्डित जी जो इस काम में सिद्धहस्त थे, लज्जित हो गए।

परन्तु चौधरी के घर के अन्य लोगों को ईश्वरेच्छा पर इतना भरोसा न था। धीरे-धीरे घर के बरतन भांड़े खिसकाये जाते थे। अनाज का एक दाना भी घर में न रहने पाया। रात को नाव लदी हुई जाती और उधर से खाली लौटती थी। तीन दिन तक घर में चूल्हा न जला। बूढ़े चौधरी के मुंह में अन्न की कौन कहे, पानी का एक बून्द भी न पड़ा। स्त्रियां भाड़ से चने भुना कर चबातीं, और लड़के मछलियां भून भून कर उड़ाते। परन्तु बूढ़े की इस एकादशी में यदि कोई शरीक थी तो वह उस की बेटी गङ्गाजली थी। वह बेचारी अपने बूढ़े बाप को चारपाई पर निर्जल छटपटाते देख बिलख बिलख कर रोती थी।

लड़कों को अपने माता पिता से वह प्रेम नहीं होता जो लड़कियों को होता है। गंगाजली इस सोच विचार में मग्न रहती कि दादा की किस भांति सहायता करूं। यदि हम सब भाई बहन मिल कर जीतनसिंह के पास जा कर दया-भिक्षा की प्रार्थना करें तो वे अवश्य मान जायंगे। परन्तु दादा को कब यह स्वीकार होगा। वह यदि एक दिन बड़े साहब के पास चले जायें तो सब कुछ बात की बात में बन जाय। किन्तु उन की तो जैसे बुद्धि ही मारी गई है। इसी

उधेड़-बुन में उसे एक उपाय सूझ पड़ा, कुम्हलाया हुआ मुखारविन्द खिल उठा।

पुजारी जी सुक्खू चौधरी के पास से उठकर चले गए थे और चौधरी उच्च स्वर से अपने सोए हुए देवताओं को पुकार पुकार कर बुला रहे थे। निदान गंगाजली उन के पास जाकर खड़ी हो गई। चौधरी ने उसे देखकर विस्मित स्वर में पूछा—क्यों बेटी? इतनी रात गए क्यों बाहर आई?

गंगाजली ने कहा—बाहर रहना तो भाग्य में लिखा है घर में कैसे रहूं।

सुक्खू ने जोर से हांक लगाई—कहां गए तुम कृष्ण मुरारी! मेरे दुःख हरो।

गंगाजली खड़ी थी, बैठ गई और धीरे से बोली—भजन गाते तो आज तीन दिन हो गये। घर बचाने का भी कुछ उपाय सोचा कि इसे यों ही मिट्टी में मिला दोगे? हम लोगों को क्या पेड़ तले रखोगे?

चौधरी ने व्यथित स्वर से कहा—बेटी, मुझे तो कोई उपाय नहीं सूझता। भगवान जो चाहेंगे होगा। वेग चलो गिरधर गोपाला! काहे विलम्ब करो।

गंगाजली ने कहा—मैंने एक उपाय सोचा है। कहो तो कहूं।

चौधरी उठ कर बैठ गए और पूछा—कौन उपाय है बेटी?

गंगाजली ने कहा—मेरे गहने झगडू साहु के यहां गिरों रख दो। मैंने जोड़ लिया है। देने भर के रुपये हो जायंगे।

चौधरी ने ठण्ढी सांस लेकर कहा—बेटी ! तुम को मुझ से यह बात कहते लाज नहीं आती। वेद शास्त्र में मुझे तुम्हारे गांव के कूएं का पानी पीना भी मना है। तुम्हारी ड्योढ़ी में भी पैर रखने का निषेध है। क्या तुम मुझे नरक में ढकेलना चाहती हो ?

गंगाजली उत्तर के लिए पहले ही से तैयार थी। बोली—मैं अपने गहने तुम्हें दिये थोड़े ही देती हूं। इस समय लेकर काम चलाओ, चैत में छुड़ा देना।

चौधरी ने कड़क कर कहा—यह मुझ से न होगा।

गंगाजली उत्तेजित होकर बोली—तुम से यह न होगा तो मैं आप ही जाऊंगी। मुझ से घर की यह दुर्दशा नहीं देखी जाती।

चौधरी ने झुंझला कर कहा—बिरादरी में कौन मुंह दिखाऊंगा ?

गंगाजली ने चिढ़ कर कहा—बिरादरी में कौन ढिंढोरा पीटने जाता है।

चौधरी ने फैसला सुनाया—जग हंसाई के लिये मैं अपना धर्म्म न बिगाड़ूंगा।

गंगाजली बिगड़ कर बोली—मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हारे ऊपर मेरी हत्या पड़ेगी। मैं आज ही बेतवा नदी में कूद पड़ूंगी। तुम से चाहे घर में आग लगते देखा जाय, पर मुझ से तो न देखा जाएगा।

चौधरी ने ठण्डी सांस लेकर कातर स्वर में कहा—बेटी, मेरा धर्म नाश मत करो। यदि ऐसा ही है तो अपनी किसी भावज के गहने मांग कर लाओ।

गंगाजली ने गम्भीर भाव से कहा-भावजों से कौन अपना मुंह नोचवाने जायगा। उन को फिकर होता तो क्या मुंह में दही जमा था। कहती नहीं ?

चौधरी निरुत्तर हो गए। गङ्गाजली घर में जा कर गहनों की पिटारी लाई और एक एक कर के सब गहने चौधरी के अंगोछे में बांध दिए। चौधरी ने आंखों में आंसू भर कर कहा-हाय राम ! इस शरीर की क्या गति लिखी है। यह कह कर उठे। बहुत रोकने पर भी आंखों में आंसू न छिपे।

(४)

रात का समय था। बेतवा नदी के किनारे किनारे मार्ग को छोड़ कर सुक्खू चौधरी गहनों की गठरी कांख में दबाए दबाए इस तरह चुपके चुपके चल रहे थे, मानों पाप की गठरी लिए जाते हैं। जब वह झण्डू साहु के मकान के पास पहुंचे तो ठहर गए, आंखें खूब साफ कीं, जिस में किसी को यह न बोध हो कि चौधरी रोता था।

झण्डू साहु धागे की कमानी की एक मोटी ऐनक लगाए बहीखाता फैलाए हुक्का पी रहे थे और दीपक के धुन्धले प्रकाश में उन अक्षरों को पढ़ने की व्यर्थ चेष्टा में लगे थे, जिन

में स्याही की बहुत किफायत की गई थी। बार बार ऐनक को साफ करते और आंख मलते पर चिराग की बत्ती उसकाना या दोहरी बत्ती लगाना शायद इस लिए उचित नहीं समझते थे कि तेल का अपव्यय होगा। इसी समय सुक्खू चौधरी ने आकर कहा–जय राम जी।

झगड़ू साहु ने देखा। पहचान कर बोले–जय राम चौधरी! कहो, मुकदमे में क्या हुआ। यह लेन देन बड़े झंझट का काम है। दिन भर सिर उठाने की छुट्टी नहीं मिलती।

चौधरी ने पोटली को खूब सावधानी से छिपा कर लापरवाही के साथ कहा–अभी तक तो कुछ नहीं हुआ। कल इजरायडिगरी होने वाली है। ठाकुर साहब ने न जाने कब का वैर निकाला है। हम को दो तीन दिन की भी मुहलत होती तो डिगरी न जारी होने पाती। छोटे साहब बड़े साहब दोनों हम को अच्छी तरह जानते हैं। अभी इसी साल मैंने उन से घण्टों बातें कीं, किन्तु एक तो बरसात के दिन, दूसरे एक दिन की मुहलत नहीं मिली, क्या करता। इस समय रुपयों की चिन्ता है।

झगड़ू साहु ने विस्मित होकर पूछा–तुम को रुपयों की चिन्ता! घर भर भरा है वह किस दिन काम आयगा। झगड़ू साहु ने यह व्यंगबाण नहीं छोड़ा था, वास्तव में उन्हें और सारे गांव को विश्वास था कि चौधरी के घर में लक्ष्मी

महारानी का अखण्ड राज्य है।

चौधरी का रंग बदलने लगा। बोले-साहु जी! रुपया होता तो किस बात की चिन्ता थी? तुम से कौन छिपाव है? आज तीन दिन से घर में चूल्हा नहीं जला, रोना पीटना पड़ा है। अब तो तुम्हारे बसाए बसूंगा। ठाकुर साहब ने तो उजाड़ने में कोई कसर न छोड़ी।

झगड़ू साहु जीतनसिंह को खुश रखना ज़रूर चाहते थे, पर साथ ही चौधरी को भी नाखुश करना मंजूर न था। यदि सूद दरसूद जोड़कर मूल तथा ब्याज सहज में वसूल हो जाए तो उन्हें चौधरी पर मुफ्त का एहसान लादने में कोई आपत्ति न थी। यदि चौधरी के अफ़सरों की जान पहचान के कारण साहु जी का टैक्स से गला छुट जाए, जो अनेकों उपाय करने अहलकारों की मुट्ठी गरम करने—पर भी नित्य प्रति उन के तोंद की तरह बढ़ता ही जा रहा था तो क्या पूछना! बोले:—

क्या कहें चौधरी जी! खर्च के मारे आजकल हम भी तबाह हैं। लहने वसूल नहीं होते। टैक्स का रुपया देना पड़ा। हाथ बिलकुल खाली हो गया। तुम्हें कितना रुपया चाहिए?

चौधरी ने कहा—सौ रुपये की डिगरी है खर्च वर्च मिला कर दो सौ के लगभग समझो।

झगड़ू साहु अब अपने दांव खेलने लगे। पूछा—तुम्हारे लड़कों

ने तुम्हारी कुछ भी मदद न की। वे सब भी तो कुछ न कुछ कमाते ही हैं ?

साहु जी का यह निशाना ठीक पड़ा—लड़कों की लापरवाही से चौधरी के मन में जो कुत्सित भाव भरे थे वह सजीव हो गए। बोला-भाई, लड़के किसी काम के होते तो यह दिन ही क्यों देखना पड़ता। उन्हें तो अपने भोग विलास से मतलब है। घर गृहस्ती का बोझ तो मेरे सिर पर है। मैं इसे जैसे चाहूं संभालूं। उन से कुछ सरोकार नहीं। मरते दम भी गला नहीं छूटता; मरूंगा तो सब खाल में भूसा भरा कर रख छोड़ेंगे। "गृह कारज नाना जंजाला:।"

झगड़ू ने दूसरा तीर मारा—क्या बहुओं से भी कुछ न बन पड़ा ?

चौधरी ने उत्तर दिया—बहू बेटे सब अपनी अपनी मौज में मस्त हैं। तीन दिन तक द्वार पर बिना अन्न जल के पड़ा था, किसी ने बात भी न पूछी। कहां की सलाह कहां की बात चीत। बहुओं के पास रुपये न हों, पर गहने तो हैं और वे भी मेरे बनाए हुए। इस दुर्दिन के समय यदि दो दो गहने उतार देतीं तो क्या मैं छुड़ा न देता ? सदा यही दिन थोड़े ही रहेंगे।

झगड़ू समझ गए कि केवल ज़बान का सौदा है और वह ज़बान का सौदा भूलकर भी न करते थे। बोले—तुम्हारे घर के लोग भी अनूठे हैं। क्या इतना भी नहीं जानते कि बूढ़ा

रुपये कहां से लावेगा ? अब समय बदल गया। या तो कुछ जायदाद लिखो या गहने गिरों रक्खो तब जाकर कहीं रुपया मिले। इस के बिना रुपये कहां। इस में भी जायदाद में सैकड़ों बखेड़े पड़ते हैं। सुभीता गिरों रखने में ही है। हां, जब घर वालों को कोई इस की फ़िक्र नहीं तो तुम क्यों व्यर्थ जान देते हो। यही न होगा कि लोग हंसेगे, सो यह लाज कहां तक निबाहोगे ?

चौधरी ने अत्यन्त विनीत होकर कहा—साहु जी यही लाज तो मारे डालती है। तुम से क्या छिपा है ? एक वह दिन था कि हमारे दादा बाबा महाराज की सवारी के साथ चलते थे और अब एक दिन यह है कि घर की दीवार तक बिकने की नौबत आ गई है। कहीं मुंह दिखाने को जी नहीं चाहता। यह लो गहनों की पोटली। यदि लोक लाज न होती तो इसे लेकर कभी यहां न आता। परन्तु यह अधर्म इसी लाज निबाहने के कारण करना पड़ा है।

झगडू साहु ने आश्चर्य में होकर पूछा—यह गहने किस के हैं ? चौधरी ने सिर झुकाकर बड़ी कठिनता से कहा, मेरी बेटी गंगाजली के। झगडू साहु स्तम्भित हो गए। बोले—अरे ! राम राम !!

चौधरी ने कातर स्वर में कहा—डूब मरने को जी चाहता है। झगडू ने बड़ी धार्मिकता के साथ स्थिर होकर कहा, शास्त्र में बेटी के गांव का पेड़ देखना मना है।

चौधरी ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर करुण स्वर में कहा-न जाने नारायण कब मौत देंगे। भाई की तीन लड़कियां व्याहीं। कभी भूलकर भी उन के द्वार का मुंह नहीं देखा। परमात्मा ने अब तक तो टेक निबाही है, पर अब न जाने मिट्टी की क्या दुर्दशा होने वाली है।

झगड़ू साहु 'लेखा जौ जौ बखशीश सौ सौ' के सिद्धान्त पर चलते थे। सूद की एक कौड़ी भी छोड़ना उन के लिए हराम था। यदि महीने में एक दिन भी लग जाता तो पूरे महीने का सूद वसूल कर लेते। परन्तु नवरात्र में नित्य दुर्गा पाठ करवाते थे। पितृ-पक्ष में रोज ब्राह्मणों को सीधा बांटते थे। बनियों की धर्म में बड़ी निष्ठा होती है। झगड़ू साहु के द्वार पर साल में एक बार भागवत् पाठ अवश्य होता। यदि कोई दीन ब्राह्मण लड़की व्याहने के लिए उनके सामने हाथ पसारता तो खाली हाथ न लौटता, भीख मांगने वाले ब्राह्मणों को चाहे वह कितने ही संडे मुसंडे हों उन के दरवाजे पर फटकार नहीं सुननी पड़ती थी। उन के धर्म शास्त्र में कन्या के गांव के कुएं का पानी पीने से प्यासों मर जाना अच्छा था। वह स्वयं इस सिद्धान्त के भक्त थे और इस सिद्धान्त के अन्य पक्षपाती उन के लिए महा मान्य देवता थे। वे पिघल गए। मन में सोचा यह मनुष्य तो कभी ओछे विचारों को मन में नहीं लाया। निर्दय काल की ठोकर से अधर्म मार्ग पर उतर आया है, तो उस के धर्म की रक्षा करना हमारा धर्म है।

यह विचार मन में आते ही झगड़ू साहु गद्दी से मसनद के सहारे उठ बैठे और दृढ़ स्वर से कहा—वही परमात्मा जिस ने अब तक तुम्हारी टेक निबाही है अब भी निबाहेंगे। लड़की के गहने लड़की को दे दो। लड़की जैसी तुम्हारी है, वैसी ही मेरी भी है। यह लो रुपये। आज काम चलाओ। जब हाथ में आ जायं दे देना।

चौधरी पर इस सहानुभूति का गहरा असर पड़ा। वह ज़ोर ज़ोर से रोने लगा। उसे अपने भावों की धुन में कृष्ण भगवान् की मोहिनी मूर्त्ति सामने विराजमान दिखाई दी। वह झगड़ू जो सारे गांव में बदनाम था, जिस की उस ने खुद कई बार हाकिमों से शिकायत की थी आज साक्षात् देवता जान पड़ता था। रुंधे हुए कण्ठ से गद्गद हो कर बोला—

झगड़ू! तुम ने इस समय मेरी बात, मेरी लाज, मेरा धर्म कहां तक कहूं, मेरा सब कुछ रख लिया। मेरी डूबती नाव पार लगा दी। कृष्ण मुरारी तुम्हारे इस उपकार का फल देंगे और मैं तो तुम्हारा गुण जब तक जीऊंगा गाता रहूंगा।

मेरे नाम के लिए आप सब को बहुत बहुत को
धन्यवाद देता हूँ — परन्तु प्राय को
पता होना चाहिए कि उस नाम को पाने
बड़ा अध्याय कार्य है। इसी नाम के लिए
मेरे हाथों ने कई पुरुष, स्त्रियों के
लहू से अपने को रंगा है।

गृह-दाह

(१)

सत्य प्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपए खर्च किए थे। उसका विद्यारंभ-संस्कार भी खूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता, दिन भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होन-हार बालक था! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आंखें, ऊंचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए हाथ-पांव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे उमर दे, प्रतापी मनुष्य होगा। उस की बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख-चन्द्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश बहन को लेकर गंगा स्नान करने गए। नदी खूब चढ़ी हुई थी, मानो अनाथ की आंखें हों। उस की पत्नी निर्मला जल में बैठकर क्रीड़ा करने लगी।

कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अंजुलियों से छींटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा अब निकलो नहीं तो सरदी हो जायगी। निर्मला ने कहा—कहो, तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ?

देवप्रकाश—और, जो कहीं पैर फिसल जाए!

निर्मला—पैर क्या फिसलेगा!

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गई। पति ने कहा—अच्छा, अब आगे पैर न रखना। किन्तु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं—मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया और फिसल गई। मुँह से एक चीख निकली; दोनों हाथ सहारे के लिए ऊपर उठे और फिर जल-मग्न हो गई। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिए से देह पोंछ रहे थे। तुरन्त पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सब ने डुबकियां मारीं, टटोला; पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मंगवाई गई। मल्लाहों ने बार-बार गोते मारे; पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आए। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्मा कहां हैं?

देव०—बेटा! गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिए रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उन के मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा और आशय समझ गया। 'अम्मा, अम्मा' कहकर रोने लगा।

(२)

मातृहीन बालक संसार का सब से करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उन के हृदय को संभालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उस के जीवन का एक-मात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकांत से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे, माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गए। पिता की आंखों में भी वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छः महीने बीत गए। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नई माता आने वाली है। दौड़ा दौड़ा पिता के पास गया और पूछा—क्या मेरी नई माता आवेगी? पिता ने कहा—हां, बेटा! वह आकर तुम्हें प्यार करेगी।

सत्य०—क्या मेरी मां स्वर्ग से आ जायेंगी?

देव०—हां! वही आ जायेंगी।

सत्य०—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?

देवप्रकाश इस का क्या उत्तर देते ? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-मन रहने लगा। अम्मा आवेंगी ! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी ! अब मैं उन्हें कभी दिक़ न करूंगा, कभी ज़िद न करूंगा, अच्छी अच्छी कहानियां सुनाया करूंगा।

विवाह के दिन आए। घर में तैयारियां होने लगीं। सत्यप्रकाश खुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्मा आवेंगी। बरात में वह भी गया। नए नए कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अन्दर बुलाया, और उसे गोद में लेकर एक अशरफ़ी दी। वहीं उसे नई माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—बेटी ! कैसा सुन्दर बालक है ! इसे प्यार करना।

सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उस ने दोनों हाथों से उस का आंचल पकड़ कर कहा—अम्मा !

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय ! वह ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से सम्बोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का संबोधन न सह सकी। वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी यौवन-काल की मदमय वायु-तरंगों में आन्दोलित हो रही थी। इस शब्द

ने उस के स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्मा मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उस का बाल-स्वप्न भंग हो गया। आंखें डबडबा गईं। नानी ने कहा—बेटी! देखो लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्मा कह दिया, तो तुम्हें कौन सी चोट लग गई?

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्मा न कहे।

(३)

सौत का पुत्र विमाता की आंखों में क्यों इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पंडित ने नहीं किया। हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया के जब तक पुत्र न हुआ, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियां सुनाती; किन्तु बाद में उस का व्यवहार कठोर हो गया। प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उस की कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उस की गोद में एक चांद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश खूब उछला कूदा और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर में कहा—खबरदार! इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़ कर उखाड़ लूंगी।

बालक उलटे पांव लौट आया, और कोठे की छत पर जा कर खूब रोया। कितना सुंदर बच्चा है! मैं उसे गोद में ले कर बैठता, तो कैसा मज़ा आता! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्हों ने मुझे झिड़क क्यों दिया? भोला बालक क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की साव-धानी नहीं, कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रक्खा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया, और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुराग-मय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में लेकर प्यार करूं; पर डर के मारे उस ने उसे उठाया नहीं, केवल उस के कपोलों को चूमने लगा। इतने में देव-प्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर ही से डांटा—हट जा वहां से!

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

सन्ध्या समय उस के पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो?

सत्य०—मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्मा खेलाने को नहीं देतीं।

देव०—झूठ बोलते हो। आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।

सत्य०—जी नहीं। मैं तो उस की मुच्छियां ले रहा था।

देव०—झूठ बोलता है।

सत्य०—मैं झूठ नहीं बोलता।

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाए। पहली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध! इस ने उस के जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता; पिता आते, तो उन से मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भांति दबकता हुआ जाकर खा लेता। न कुछ मांगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि था। उसकी सफाई, सलीक़े और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचेले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था! बाज़ार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता। गालियां बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति गायब हो गई। देवप्रकाश को अब आए दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियां और तमाचे खाने लगा। यहां तक कि अगर वह कभी किसी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दुर-दुर कह कर दौड़ते।

ज्ञान प्रकाश को पढ़ाने के लिए मास्टर आता था। देव-

प्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हंस मुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साए से भी बचाती रहती थी। दोनों लड़कों में कितना अंतर था! एक साफ़-सुथरा, सुंदर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला, सच बोलने वाला; देखने वालों के मुंह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुंह छिपाए हुए, मुंह फट, बात बात पर गालियां बकने वाला। एक हरा-भरा पौधा, प्रेम में प्लावित, स्नेह से सिंचित; दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लवहीन नववृक्ष, जिस की जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंडी होती; दूसरे को देखकर देह में आग लग जाती।

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेश मात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊंचा, कहीं भाग्यशाली समझता। उस में ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है; प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था। कभी-कभी उस का पक्ष लेकर अपनी मां से वाद-विवाद कर बैठता। कहता—भैया की अचकन फट गई है, आप [illegible] अचकन क्यों नहीं बनवा

देती ? मां उत्तर देती—उस के लिए वही अचकन अच्छी है। अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेब-खर्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शांतिमय आनंद का अनुभव होता। उतनी देर के लिए वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने लगता। उस के मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिये उस की सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—तुम आज कल पढ़ने क्यों नहीं जाते ? क्या सोच रक्खा है कि मैंने तुम्हारी ज़िन्दगी भर का ठेका ले रक्खा है ?

सत्य०—मेरे ऊपर जुर्माने और फ़ीस के कई रुपए हो गए हैं। जाता हूं, तो दरजे से निकाल दिया जाता हूं।

देव०—फ़ीस क्यों बाकी है ? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न ?

सत्य०—आए दिन चन्दे लगा करते हैं। फ़ीस के रुपये चन्दे में दे दिए।

देव०—और जुर्माना क्यों हुआ ?

सत्य०—फ़ीस न देने के कारण।

देव०—तुम ने चन्दा क्यों दिया ?

सत्य०—ज्ञानू ने चन्दा दिया, तो मैंने भी दिया।

देव०—तुम ज्ञानू से जलते हो ?

सत्य०—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा। यहां हम और वह दो हैं, बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।

देव०—क्यों, यह कहते शर्म आती है ?

सत्य०—जी हां! आप की बदनामी होगी।

देव०—अच्छा! तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं! यह क्यों नहीं कहते कि अब पढ़ना मंजूर नहीं। मेरे पास इतना रुपया नहीं है कि तुम्हें एक एक क्लास में तीन तीन साल पढ़ाऊं; ऊपर से तुम्हारे खर्च के लिए प्रतिमास कुछ दूं। ज्ञान बाबू तुम से कितना छोटा है, लेकिन तुम से एक ही दरजा नीचे है। तुम इस साल ज़रूर ही फ़ेल होओगे, वह ज़रूर पास होगा। अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुंह में कालिख लगेगी न।

सत्य०—विद्या मेरे भाग्य में नहीं है।

देव०—तुम्हारे भाग्य में क्या है ?

सत्य०—भीख मांगना।

देव०—तो फिर भीख ही मांगो। मेरे घर से निकल जाओ।

देवप्रिया भी आ गई। बोली—शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब देता है।

सत्य—जिन के भाग्य में भीख मांगना होता है, वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।

देवप्रिया–ये जली कटी बातें अब मुझ से न सही जायंगी मैं खून का घूंट पी-पीकर रह जाती हूं।

देवप्रकाश—बेहया है। कल से इस का नाम कटवा दूंगा। भीख मांगनी है तो भीख ही मांगो।

(५)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर ली। उस की उम्र अब १६ साल की हो गई थी। इतनी बातें सुनने के बाद उसे उस घर में रहना असह्य हो गया था। जब तक हाथपांव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पांव हो गए थे, उस बंधन में क्यों रहता। आत्माभिमान, आशा की भांति, चिरंजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे, दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बग़ल में दबाई, एक छोटा सा बैग हाथ में लिया और चाहता था कि चुपके से बैठक से निकल जाए कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देखकर बोला–कहां जाते हो, भैया?

सत्य०—जाता हूं, कहीं नौकरी करूंगा।

ज्ञान०—मैं जाकर अम्मा से कहे देता हूं।

सत्य०–तो फिर मैं तुम से भी छिपाकर चला जाऊंगा।

ज्ञान०–क्यों चले जाओगे? क्या तुम्हें मुझ से ज़रा भी मुहब्बत नहीं?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—तुम्हें छोड़ कर जाने को जी नहीं चाहता, लेकिन जहां कोई पूछने वाला नहीं है, वहां पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पांच की नौकरी कर लूंगा, और पेट पालता रहूंगा, और किस योग्य हूं?

ज्ञान०—तुम से अम्मा क्यों इतना चिढ़ती हैं? मुझे तुम से मिलने को मना किया करती हैं।

सत्य०—मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या?

ज्ञान०—तुम लिखने पढ़ने में जी नहीं लगाते?

सत्य०—लगता ही नहीं, कैसे लगाऊं? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूं–ऊंह, यही न होगा, ठोकरें खाऊंगा। बला से!

ज्ञान०—मुझे भूल तो न जाओगे? मैं तुम्हारे पास खत लिखा करूंगा। मुझे भी एक बार अपने यहां बुलाना।

सत्य०—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूंगा।

ज्ञान०—(रोते-रोते) मुझे न जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।

सत्य०—मैं तुम्हें सदैव याद रक्खूंगा।

यह कह कर उस ने फिर भाई को गले से लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था।

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुंचा, इस का वृत्तान्त लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा में क़िले बना सकते हैं धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाईयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुंचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उस ने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूंगा, कहां रहूंगा? उस के बैग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है, और सरल भी। सरल है उन के लिए, जो हाथ से काम कर सकते हैं, कठिन है उन के लिए, जो क़लम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मज़दूरी करना नीच समझता था। उस ने एक धर्मशाला में असबाब रक्खा। बाद में शहर के मुख्य मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाकघर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मज़दूरों की चिट्ठियां, मनीआर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उस को इतने पैसे भी न मिले कि भर पेट भोजन करता,

लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मज़दूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उन के समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस, वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो, तीन-तीन बार लिखाते हैं। उन की दशा ठीक रोगियों की सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तान्त कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मज़दूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे १) रोज़ मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकल कर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी सी कोठरी ले ली। एक जून बनाता, दोनों जून खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। ज़मीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर ज़रा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेम-युक्त बातें न भूलतीं। अन्धकार में यही एक प्रकाश था। विदाई का अन्तिम दृश्य आंखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिन्त होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया उस के आनन्द की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं

अकेला नहीं हूं, कोई मुझे भी चाहता है, मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिन्ता हुई कि ज्ञानू के लिए कोई उपहार भेजूं। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उन के साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-कबाब की भी ठहरी। आइना, तेल, कंघी का शौक़ भी पैदा हुआ। जो कुछ पाता, उड़ा देता, बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उस के पैर पकड़ लिए। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा। मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय की चिन्ता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उस ने निश्चय किया कि एक अच्छी सी घड़ी भेजूं। उस का मूल्य कम से कम ४०) होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूं, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा खुश होगा। अम्मा और बाबू जी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूं। किफ़ायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न जलाता। बड़े सवेरे काम करने चला जाता और सारे दिन दो चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उस के ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी।

चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उस ने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उस के पास ५०) एकत्र हो गये, और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उस का चित्त इतना उत्साहित था, मानों किसी निस्सन्तान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत कर देता है! यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है, प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की। यही वह लहर है, जो मानव-जीवन-मात्र को स्थिर रखती है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है। यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर' कहां था? वह कौन सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उस की रक्षा करती थी? माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिन्ता? नहीं उस का रक्षक, उद्धारक, उस का परितोषक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक एक पैसे की किफ़ा-

यत करता। उसी के लिए वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नए नए उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिस में व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है, इस लिए ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ न न कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी सी दुकान भी उस ने खोल ली थी। इस से अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पांच वर्ष बीत गए। रसिक मित्रों ने जब देखा कि अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उस के पास आना जाना छोड़ दिया।

(८)

सन्ध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब १७ वर्ष का सुन्दर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ-मुहूर्त को न टाल सकते थे, विशेषतः जब कोई महाशय ५,०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूं, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।

देवप्रिया—तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जाएगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।

देवप्रकाश—ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं है, वह सिद्धान्त का इनकार है। वह साफ-साफ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राजी नहीं हूं।

देवप्रिया—उस की कौन चलाए। वहां कोई रखैल रख ली होगी, विवाह क्यों करेगा?

देवप्रकाश—(झुंझला कर) रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीने न भेजता, और न चीजें ही देता। पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न जाने क्यों तुम्हारा मन उस की ओर से इतना मैला हो गया है? चाहे वह जान निकाल कर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी।

देवप्रिया नाराज़ होकर चली गई। देवप्रकाश उस से यही कहलाया चाहते थे कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है, किन्तु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें, पर उन्होंने भी आज तक सत्य-प्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिए क्षमा मांगी,

तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूं। मेरी अभिलाषा है, तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूं। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह विनय स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अंत में इस बात पर ज़ोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बंधन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृस्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इस के साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनन्द हुआ कि अम्मा और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिन्ता थी? मैं मर भी जाऊं, तो भी उन की आंखों में आंसू न आवे। ७ वर्ष हो गए, कभी भूलकर भी पत्र न लिखा कि मरा है, या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञान-प्रकाश अंत में विवाह करने पर राज़ी तो हो ही जाएगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, तो मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझ से प्रेम है, लेकिन उस के कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूंगा। हमारा पारिवारिक जीवन सम्पूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य करता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फंसकर मनुष्य अपनी प्यारी संतान का शत्रु हो जाता है। ना, मैं

आंखों देखकर यह मक्खी न निगलूंगा। मैं ज्ञानू को समझाऊंगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उस के विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूंगा। बस, इस से ज्यादा मैं और कुछ नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित ही रहे, तो संसार कौन सूना हो जाएगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंशपरम्परा का पालन न करेगा? क्या उस के जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जाएगा, जिस ने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने ५००) पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य, जो आप ने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित होगया, इसकी बधाई! इन रुपयों से नववधू के लिए कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात। सो मैंने अपनी आंखों से जो कुछ देखा और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुम्ब-पाश में फँसूं, तो मुझ से बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुंचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा कि माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धि-हीन आदमी हूं; मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है। खेद है, मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूंगा,

लेकिन मेरे लिए इस से बढ़कर आनन्द और संतोष का विषय नहीं हो सकता।

(६)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गए। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़ कर कहा—यह लौंडा देखने ही को सीधा है, है ज़हर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बरछियों से कैसा छेद रहा है।

किन्तु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुंचा। दादा और अम्मा के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर वाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिए। न जाने अम्मा को उन से क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से यह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गंभीर थे। उन्हें अम्मा की बातों का जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे-से-अच्छा खाता था, फिर भी उन के तेवर मैले न हुए, हालांकि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या? फिर मैं क्यों इस विपत्ति में फसूं? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझ कर यह धारणा की है।

संध्या समय जब उसके माता पिता बैठे हुए इसी समस्या

पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।

देवप्रिया—क्या कलकत्ते जाओगे?

ज्ञान०—जी हां।

देवप्रिया—उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते?

ज्ञान०—उन्हें कौन मुंह लेकर बुलाऊं? आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुंह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकरें खा रहा है, और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊं कि......

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर नमक मत छिड़क! माता-पिता का धर्म है, इसलिए कहती हूं, नहीं तो यहां ठेंगे की परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वांरा रह; पर मेरी आंखों से दूर हो जा।

ज्ञान०—क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई?

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहां चाहे रह। हम भी समझ लेंगे कि भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया।

देव०—क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो?

ज्ञान०—अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा। देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया, और पत्नी के क्रोध को शांत करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूट कर रो रही थी, बार-बार कहती थी—मैं इसकी

सूरत न देखूंगी। अंत में देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—तो तुम्हीं ने तो कटु वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहां से सात समुद्र-पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझ से छीनने ही के लिए उस ने यह प्रेम का स्वांग भरा है। मैं उस की नस-नस पहचानती हूं। उसका यह मंत्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिस ने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।

देव०—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा! अभी गुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। ज़रा शांत हो जाएगा, तो मैं समझा कर राज़ी कर दूंगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—तुम्हारी माता इस शोक में मर जाएगी, किन्तु कुछ असर न हुआ। उस ने एक बार 'नहीं' कहकर 'हां' न की। निदान वह भी निराश होकर बैठे रहे।

तीन साल तक प्रति वर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा, पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हां, उसने माता की एक बात मान ली। वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया

की तीनों कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उस के सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाए लेता। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती तो सत्यप्रकाश को खूब जी भरकर कोसती। मगर दोनों भाइयों में प्रेम पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी, और प्रायः धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय में अध्यापक हो गए थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिए नित्य टोने टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुंदरी है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—इस का बखान किया करती, पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की फुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएं आती थीं, उन की गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलजार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयां आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सब से अभागिनी हूं। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा है। भगवान्

ऐसा भी कोई दिन आवेगा कि मैं अपनी बहू का मुख-चन्द्र देखूंगी, बालकों को गोद में खिलाऊंगी। वह भी कोई दिन होगा जब मेरे घर में भी आनन्दोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की सी हो गई। आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यन्त रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज़ हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाए देता है। एक दिन उस ने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा और उस में जितना कोसते बना, कोसा—तू मेरे प्राणों का वैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आवेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तू ने मेरे लड़के पर वशीकरण-मन्त्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा यहां तक कि यह उस का नित्य का कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियां न दे लेती, उसे चैन ही न आता! इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाक घर भिजवा दिया करती थी।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिए घातक हो गया। परदेश में उसे यही संतोष था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूं। अब यह अवलम्ब जाता रहा। ज्ञान-प्रकाश ने जोर देकर लिखा—अब आप मेरे हेतु कोई कष्ट न उठावें। मुझे अपनी गुजर करने के लिए काफी से ज्यादा मिलने लगा है।

यद्यपि सत्यप्रकाश की दुकान खूब चलती थी, लेकिन कलकत्ते जैसे शहर में एक छोटे से दुकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। ६०) ७०) की मासिक आमदनी होती ही क्या है? अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी, बल्कि त्याग था। एक वक्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग आर्द्र कोठरी में रह कर २५) ३०) रुपये बचते थे। अब दोनों वक्त भोजन मिलने लगा। कपड़े भी ज़रा साफ़ पहनने लगा। मगर थोड़े ही दिनों में उस के खर्च में औषधियों की एक मद बढ़ गई। फिर वही पहले की सी दशा हो गई। बरसों तक शुद्ध प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रह कर अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मन्दाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है। किसी अवलम्ब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुंह

ताकती है, कोई आश्रय ढूंढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सवेरा हो जाता। कभी बाज़ार से पूरियां लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता। पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाज़ारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थक कर चूर-चूर हो जाता। उस वक्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उस का मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता। पर वहां निशांधकार के सिवा और कौन था? दीवालों के कान चाहे हों, मुंह नहीं होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और वे भी रूखे। उन में अब हृदय के सरल उद्गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था, पर एक अध्यापक के लिये भावुकता कब शोभा देती है? शनैः शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझ से निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिए आना असम्भव था! मेरे लिए तो घर का द्वार बंद है; पर उसे कौन-सी बाधा है। उस गरीब को क्या मालूम कि यहां ज्ञानप्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने की कसम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं, पर मनुष्यता विरले ही में

होती है। सत्यप्रकाश उस बहु-संख्यक स्थान में भी अकेला था। उस के मन में अब एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूं? विवाह ही क्यों न कर लूं? वह सुख और शांति और कहां मिल सकती है? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है? वह इस आवेश को अपनी सम्पूर्ण विचार-शक्ति से रोकता, पर जिस भांति किसी बालक को घर में रक्खी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर में खींच लाती है, उसी तरह उस का चित्त भी बार बार उन्हीं मधुर चिन्ताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुखों से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी थी क्या? क्या मैं श्रम से जी चुराता था? अगर बालपन ही में मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि—शक्तियों का गला न घोट दिया गया होता, तो मैं भी आज आदमी होता, पेट पालने के लिए इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं, मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूंगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दुकान से आकर चूल्हा जलाने जा रहा था, कि डाकिए ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उस के पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उन का पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों? किसी अनिष्ट

की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उस के हाथ से छूटकर गिर पड़ा, और वह सिर थामकर बैठ गया, कि जमीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विष युक्त लेखनी से निकला हुआ जहर का तीर था, जिस ने एक पल में उसे संज्ञाहीन कर दिया। उस की सारी मर्मांतक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठंडी सांस में समाप्त हो गई।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा। मानसिक व्यथा आप से आप पानी हो गई। हा! सारा जीवन नष्ट हो गया! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूं? मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन को मिट्टी में मिलाने के लिए ही प्रेम का स्वांग भर रहा हूं? भगवन्! तुम्हीं इस के साक्षी हो।

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुंचा। सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला। पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुंचा। उस का भी वही अन्त हुआ। फिर तो यह नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता और फाड़ दिया जाता। किन्तु देवप्रिया का अभिप्राय विना पढ़े ही पूरा हो जाता था। सत्यप्रकाश के मर्म स्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उस ने दुकान वन्द कर दी, बाहर आना जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे

दिन याद आते, जब माता पुचकार कर गोद में बिठा लेती, और कहती—बेटा ! पिता सन्ध्या समय दफ़्तर से आकर गोद में उठा लेते, और कहते—भैया ! माता की सजीव मूर्ति उस के सामने आ खड़ी होती ठीक वैसे ही जब वह गंगा-स्नान करने गई थी। उस की प्यार भरी बातें कानों में गूंजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता, जब उस ने नव वधु माता को 'अम्मा' कह कर पुकारा था। तब उस के कठोर शब्द याद आ जाते, उस के क्रोध से भरे विकराल नेत्र आंखों के सामने आ जाते। उसे अपना सिसक-सिसक कर रोना याद आ जाता। फिर सौरगृह का दृश्य सामने आता। उस ने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था। तब माता के वज्र के से शब्द कानों में गूंजने लगते। हाय ! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया ! ऐसी कितनी ही घटनाएं याद आतीं। कभी बिना अपराध के मां का डांट बताना, और कभी पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उन का बात-बात पर त्योरियां बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना—हाय ! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया ! तब वह करवट बदल लेता, और फिर वही दृश्य आंखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता और चिल्ला उठता—इस जीवन का अंत क्यों नहीं हो जाता ?

इस भांति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गए। संध्या हो गई थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज़

सुनाई पड़ी। उस ने कान लगाकर सुना और चौंक पड़ा। कोई परिचित आवाज़ थी। दौड़ा, द्वार पर आया, तो देखा, ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान पुरुष था! वह उस के गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उस के पैरों को स्पर्श किया। दोनों भाई घर में आए। अंधकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आंखें देखता और रोता था।

सत्यप्रकाश–मैं आजकल बीमार हूं।

ज्ञानप्रकाश–यह तो देख ही रहा हूं।

सत्य०—तुम ने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला?

ज्ञान०–सूचना तो दी थी, आप को पत्र न मिला होगा।

सत्य०—अच्छा, हां दी होगी, पत्र दुकान में पड़ा होगा। मैं इधर कई दिन से दुकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है?

ज्ञान०—माता जी का देहांत हो गया।

सत्य—अरे! क्या बीमार थीं?

ज्ञान०—जी नहीं। मालूम नहीं, क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु वचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।

सत्य०—पिता जी तो कुशल से हैं ?

ज्ञान०—हां, अभी मरे नहीं हैं।

सत्य०—अरे ! क्या बहुत बीमार हैं ?

ज्ञान०—माता ने विष खा लिया, तो वह उनका मुंह खोल कर दवा पिला रहे थे। माता जी ने जोर से उनकी दो उंगलियां काट लीं। वही विष उन के शरीर में पहुंच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं, किसी को देखते हैं, तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।

सत्य०—तब तो घर ही चौपट हो गया !

ज्ञान०—ऐसे घर को अब से बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था।

तीसरे दिन दोनों भाई प्रातःकाल कलकत्ते से विदा हो कर चल दिए।

"ابن آدم"

न्याय-मन्त्री

(१)

यह घटना आज से २५०० वर्ष पहले की है।

एक दिन सन्ध्या-समय जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्धगया नामक गांव में एक परदेसी शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—क्या मुझे रात काटने के लिए स्थान मिल जायगा ?

शिशुपाल अपने गांव में सब से निर्धन थे। घोर दारिद्र ने भूखे बैल की नाईं उन की हड्डियों का पञ्जर निकाल रक्खा था। उन की आजीविका थोड़ी सी भूमि पर चलती थी। परन्तु फिर भी परदेसी को द्वार पर देखकर उन का मुख खिल उठा, जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—" यह मेरा सौभाग्य है, आइए, पधारिए। अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।"

परदेसी और ब्राह्मण दोनों अन्दर गए। भारतवर्ष में

अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेसी मुग्ध हो गया। उस ने ब्राह्मण से कहा—"आप का पुत्र बड़े काम का आदमी है, उस का सेवा-भाव देखकर जी खुश हो गया।"

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक-भौं चढ़ाकर उत्तर दिया—"आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।"

परदेसी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—"क्षमा कीजिए, मेरा यह अभिप्राय न था। परन्तु आज कल वे ब्राह्मण कहां हैं। अब तो आंखें उन के लिए तरसती हैं।"

शिशुपाल ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।"

"मैं आप का अभिप्राय नहीं समझा ?"

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी, जिस को सुन कर परदेसी दंग रह गया। उस की बातें ऐसी युक्ति-युक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेसी उन पर मुग्ध हो गया। इस छोटे से गांव में ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्त्वदर्शी पण्डित हो सकता है, इस की उसे कल्पना भी न थी। उस ने शिशुपाल का युक्ति-युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देखकर कहा--"मुझे ख़्याल न था कि यहां गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता

लग जाए तो आप को किसी ऊंचे पद पर नियुक्त कर दें।"

शिशुपाल के शुष्क होंठों पर मुस्कराहट आ गई। जिस का अन्तःकरण कुढ़ रहा हो जिस के नेत्र आंसू बरसा रहे हों जिस का मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उस के होंठों पर हंसी ऐसी भयानक प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चांदनी, वरन उस से भी अधिक। शिशुपाल की आंखें नीचे झुक गईं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर ऊपर उठाया और कहा—" आज कल बड़ा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूं, मेरा रक्त उबलने लगता है।"

परदेसी ने पैंतरा बदल कर उत्तर दिया—शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।

" रहने दो, मैं सब जानता हूं।"

" दोष निकालना सुगम है, परन्तु कुछ कर के दिखाना कठिन है।"

शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े हुए पत्ते की नाईं झुलस कर उत्तर दिया—

" अवसर मिले तो दिखा दूं कि न्याय किसे कहते हैं"

" तो आप अवसर चाहते हैं ?"

" हां, अवसर चाहता हूं।"

" फिर कोई अन्याय न होगा ?

" सर्वथा न होगा।"

" कोई अपराधी दण्ड से न बचेगा ?"

"कदापि नहीं बचेगा।"

परदेसी ने सहजभाव से कहा—"यह बहुत कठिन है।"

"ब्राह्मण के लिए कोई कठिन नहीं। मैं न्याय का डङ्का बजाकर दिखा दूंगा।"

परदेसी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उस ने हंसकर उत्तर दिया—"यदि मैं अशोक होता तो आप की मनोकामना पूर्ण कर देता।"

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक सन्देह उठा, परन्तु दूसरे ही क्षण में दूर हो गया। जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्र-खण्ड को उड़ा ले जाते हैं।

(२)

दूसरे दिन शिशुपाल को महाराज अशोक के दरबार में बुलाया गया। इस समाचार से गांव भर में आग सी लग गई। यह वह समय था, जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ हुआ था और दमन नीति का दौर-दौरा था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फांसी पर चढ़ा दिया करते थे। उन की निष्ठुर दृष्टि से बड़े बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिए यह बुलावा मृत्यु का बुलावा है। सब को विश्वास हो गया, कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के सम्बन्धियों पर दुख का पहाड़ टूट पड़ा, और वे फूट-फूट कर

रोने लगे। लोग धीरज बंधाते थे, परन्तु शिशुपाल के माथे पर बल था। वे कहते थे—"जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी नियम का प्रतिरोध नहीं किया तब कोई मुझे क्यों फांसी देने लगा। निस्सन्देह राजा ऐसा अन्यायी और अन्धा नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दुःख देने लगे।" भय और अशंका की लहरों के मध्य में वे इस प्रकार मौन खड़े थे जैसे समुद्री चट्टान पानी के प्रहार में खड़ी रहती है। उन्होंने अपने पुत्र और स्त्री को समझाया, और पाटलिपुत्र की ओर चले।

सांझ हो गई थी, जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुंचे, और जब राज-महल में पहुंचाए गए। उस समय तक उन को किसी बात का भय न था, परन्तु राज-महल की चमक-दमक देखकर उन पर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई में पहुंचकर घबरा जाता है। उन के हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते, किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, बेधड़क कह देता हूं, कहीं इस का फल न भुगतना पड़े, कई शत्रु हैं। कभी सोचते, वह परदेसी पता नहीं कौन था? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो। और यह आग उसी की लगाई हो। तब तो उस ने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की, जो एक अपरिचित से घुल मिलकर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूं। कभी सोचते, कदाचित्

मेरी दरिद्रता की दुःख कथा यहां तक पहुंच गई हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है। इस विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परन्तु फिर दूसरे विचार से मुर्झा जाता। इतने में प्रतीहार ने कहा— "महाराज आ रहे हैं।"

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। उन को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्राण होठों तक आ गए हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इस का पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम गई, महाराज अशोक राजसीय ठाठ से कमरे में दाखिल हुए और मुस्कराते हुए बोले—"ब्राह्मण देवता! आप ने मुझे पहचाना।"

शिशुपाल घबरा कर खड़े हो गए। इस समय उनका रोम रोम कांप रहा था—ये वही थे।

(३)

हां ये वही थे। शिशुपाल कांप कर रह गये। कौन जानता था कि शीतकाल की रात को एक ब्राह्मण के यहां आश्रय लेने वाला परदेसी भारत का सम्राट् हो सकता है। शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा— "मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं, अन्यथा इतनी स्वतन्त्रता से बात चीत न करता।"

महाराज अशोक बोले—"हूं।"

"परन्तु मैंने कोई बात ग़लत नहीं कही थी।"

"हूं।"

"मैं प्रमाण दे सकता हूं।"

महाराज ने कहा—"मैं नहीं चाहता।"

"तो मेरे लिये क्या आज्ञा है ?"

"मैं आप की परीक्षा करना चाहता हूं।"

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा—"क्या वह सच हो जाएगा ?"

महाराज ने कहा—"आप ने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाए तो मैं न्याय का डंका बजा दूंगा। मैं आप के इस कथन की परीक्षा करना चाहता हूं। आप तैयार हैं ?"

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊंची की, और कहा—"हां, यदि महाराज की यही इच्छा है तो मैं तैयार हूं।"

"कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किए जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।"

"बहुत अच्छा !"

"पाटलिपुत्र की पुलीस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे आधीन होगा, और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा।"

"बहुत अच्छा !"

"यदि कोई दुर्घटना होगई अथवा कोई हत्या होगई तो इस का उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा।"

"बहुत अच्छा!"

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अंगूठी उतार कर बोले—"यह राज मुद्रा है तुम कल प्रात:काल की पहली किरण के साथ न्याय-मंत्री समझे जाओगे। मैं देखूंगा तुम अपने आप को किस प्रकार सफल-शासक सिद्ध कर सकते हो।"

(४)

एक मास व्यतीत हो गया। न्याय-मन्त्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारों ओर धूम मच गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है, उन्होंने चोर डाकुओं को इस प्रकार वश में कर लिया था, जैसे सर्प को बीन बजा कर संपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाज़े तक खुले छोड़ जाते थे, परन्तु किसी को अंदर झांकने का साहस न होता था। शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था, न सिफारिश सुनता था। वह केवल दण्ड देना जानता था और दण्ड भी शिक्षा-प्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।

रात्रि का समय था। आकाश में तारे खेलते थे। एक पुरुष ने एक विशाल भवन के द्वार पर अवाज़ दी। झरोखे से किसी स्त्री ने सिर निकाल कर पूछा—"कौन है?"

"मैं हूं, दरवाज़ा खोल दो।"

"परन्तु वे यहां नहीं हैं।"

"परवा नहीं, तुम दरवाज़ा खोल दो।"

स्त्री ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"मैं नहीं खोलूंगी; तुम इस समय जाओ।"

उस व्यक्ति ने क्रोध से कहा —"दरवाजा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूंगा।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।"

उस ने तलवार निकाल कर दरवाज़े पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरेदार ने आकर उसका हाथ थाम लिया, और कहा—" यह तुम क्या कर रहे हो ?"

धनी ने उस की ओर इस तरह देखा, जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है, और क्रोध से बोला—" तुम कौन हो ?"

" मैं पहरेदार हूं।"

" तुम को इस पद पर किस ने नियत किया है ?"

" न्याय मन्त्री ने।"

" मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूं।"

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—" परन्तु इस समय महाराज अशोक आ जाएं तो भी न टलूंगा।"

" क्यों अपनी मृत्यु को बुला रहे हो ?"

"मैंने जो प्रण किया है उसे पूरा करूंगा।"

"किस से प्रण किया है ?"

"न्याय-मन्त्री से।"

"क्या ?"

"यही कि जब तक तन में प्राण हैं और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, मैं अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे न हटूंगा।"

उस व्यक्ति ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हटकर कहा—"आप गलती कर रहे हैं। मैं नौकरी पर हूं।"

परन्तु उस पुरुष ने सुना अनसुना कर दिया, और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली। परन्तु वह अभी नया था, पहले ही वार में गिर गया, और मारा गया। उस पुरुष का लहू सूख गया। उस के हाथों के तोते उड़ गए। उस की यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाए। वह उसे केवल डराना चाहता था। परन्तु घाव मर्म स्थान पर लगा। उस ने पहरेदार की लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

(५)

प्रातःकाल इस घटना की घर घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलीस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में। राजधानी में आतङ्क छा गया। पुलीस के आदमी चारों ओर

दौड़ते फिरते थे, मानों यह उन के जीवन और मरण का प्रश्न हो। और न्याय-मन्त्री ने तो इस मामले की खोज में दिन-रात एक कर दिया। यह घटना उन के शासन-काल में पहली थी। उन को खाना-पीना भूल गया, आंखों से नींद उड़ गई। घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी, परन्तु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते, तुमने कितने ज़ोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया? न्याय-मन्त्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज पूछते, "घातक कब तक पकड़ा जाएगा"। न्याय-मन्त्री उत्तर देते, "यत्न कर रहा हूं, जल्दी ही पकड़ लूंगा।" महाराज कुछ दिन ठहर कर फिर पूछते, "हत्यारा पकड़ा गया।" न्याय-मन्त्री कहते, "अभी नहीं।" महाराज का क्रोध भड़क उठता। उनकी आंखों से आग की चिनगारियां निकलने लगतीं, बादल के समान गर्ज कर बोलते—"मैं यह नहीं सुनते सुनते तङ्ग आगया हूं।"

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज ने शिशुपाल को बुलाकर कहा—"तुम्हें तीन दिन की और अवधि दी जाती है। यदि इस बीच में भी घातक न पकड़ा गया तो तुम्हें फांसी दे दी जाएगी।"

इस समाचार से नगर में हलचल सी मच गई। एक ही

मास के अन्दर अन्दर शिशुपाल लोक-प्रिय हो चुके थे। उन की न्याय शीलता की चारों ओर धाक बंध गई थी। लोग महाराज को गालियां देने लगे। जहां चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बात चीत करने लगते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी हो जाए, परन्तु शिशुपाल का बाल बांका न हो। शिशुपाल स्वयं बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ। यहां तक कि तीसरा दिन आगया—अब कुछ ही घण्टे बाक़ी थे।

रात्रि का समय था, शिशुपाल की आंखों में नींद न थी। वे नगर के एक घने बाज़ार के अन्दर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिड़की खुली, और एक स्त्री ने झांक कर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—"तुम कौन हो? पहरेदार!"

निराशा के अन्धकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूं।"

"ज़रा यहीं ठहरो।"

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई, और दीपक लेकर दरवाज़े पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई, और बोली—"आज अन्तिम रात्रि है?"

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और शांति से उत्तर दिया—"हां, अन्तिम।"

शब्द साधारण थे, परन्तु इनका अर्थ साधारण न था।

स्त्री तिलमला कर खड़ी हो गई और बोली—"मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूं।"

शिशुपाल की मृतप्राय देह में प्राण आगए, धैर्य्य धर कर बोले—"तो सब कुछ बता दो"।

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की तरह चारों ओर देखा।

(६)

दूसरे दिन दरबार में तिल रखने को स्थान न था। आज न्याय-मन्त्री का भाग्य-निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही पुकारा—"न्याय-मन्त्री!"

शिशुपाल सामने आए। इस समय उन के मुख पर कोई चिन्ता, कोई घबराहट न थी।

महाराज ने पूछा—"हत्यारे का पता चला?"

न्याय-मन्त्री ने साहसपूर्वक उत्तर दिया—"हां, चल गया।"

"पेश करो।"

न्याय-मन्त्री ने सिर झुकाकर कुछ सोचा। इस समय उन के हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था। यह उन के मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होंने दृढ़ सङ्कल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—"धनवीर।"

"श्रीमन्।"

"गिरफ़्तार कर लो, मैं आज्ञा देता हूं।"

संकेत महाराज की ओर था, दरबार में निस्तब्धता छा गई। अशोक का चेहरा लाल हो गया। मानो वह तपा हुआ तांबा हो। नेत्रों से अग्नि-कण निकलने लगे। वे तिलमला कर खड़े हो गए और बोले—"अरे ब्राह्मण! अब तुझे यहां तक साहस हो गया।"

न्याय-मन्त्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नहीं, और अपने शब्दों को फिर दोहराया—"मैं आज्ञा देता हूं, गिरफ़्तार कर लो। हत्यारा यही है।"

धनवीर पुतली की तरह आगे बढ़ा। दरबारियों का दम रुक गया। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आए। न्याय-मन्त्री ने कहा—"यह हत्यारा है। मेरी अदालत में पेश करो।"

धनवीर ने अशोक को हथकड़ी लगा ली और शिशुपाल की कचहरी की ओर ले चला। वहां सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—"अपराधी राजकुल से है, अतएव अकेला पेश किया जाए।"

महाराज अशोक ने सङ्केत किया, मन्त्री-गण पीछे हट गए। महाराज उस जंगले में खड़े हो गए, जो अपराधियों के लिए नियत था। किसी छत्रपति नरेश के अपने राज्य में स्वयं उस के नौकर के हाथों यह सम्मान हो सकता है, यह किसी को आशंका न थी। परन्तु शिशुपाल दृढ़ सङ्कल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे। उन्होंने आंख

से महाराज को प्रणाम किया। हाथों को न्याय-रज्जु ने बांध रक्खा था। वे धीरे से बोले—"तुम पर पहरेदार की हत्या का अभियोग है। तुम इस का क्या उत्तर देते हो ?"

महाराज अशोक ने होंठ काट कर उत्तर दिया—"वह उद्दण्ड था।"

"तो तुम अपराध स्वीकार करते हो।"

"हां, मैंने उस को मारा है। परन्तु मैंने जान-बूझकर नहीं मारा।"

"वह उद्दण्ड नहीं था। मैं उसे चिरकाल से जानता हूं।"

"वह उद्दण्ड था।"

"तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हें मृत्यु-दंड देता हूं।"

अशोक के नेत्र लाल हो गए। मन्त्रियों ने तलवारें निकाल लीं। कई आदमी शिशुपाल को गालियां देने लगे। कई एक ने यहां तक कह दिया, न्याय-मन्त्री पागल हो गया है। एक आवाज़ आई, तुम अपना सिर बचाओ। अशोक ने हाथ उठाकर मौन रहने का सङ्केत किया। चारों ओर फिर वही निस्तब्धता छा गई। न्याय-मन्त्री ने कड़क कर कहा—"आप का क्रोध करना सर्वथा अनुचित है। मैं इस समय न्याय-मन्त्री के आसन पर हूं, और न्याय करने बैठा हूं। महाराज अशोक की दी हुई मुद्रा मेरे हाथ में है। यदि किसी ने शोर-शर किया तो मैं उस को अदालत के अपमान के अपराध में गिरफ्तार कर लूंगा।"

"अशोक! तुम ने एक राजकर्मचारी की हत्या की है। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूं।"

महाराज ने सिर झुका दिया। इस समय उन के हृदय में ब्रह्मानन्द का समुद्र लहरें मार रहा था। सोचते थे यह मनुष्य सोना है, जो अग्नि में पड़कर कुन्दन हो गया है। कहता था, मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा, वह वचन झूठा न था। इस ने अपने कहने की लाज रख ली। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिन पर जातियां अभिमान करती हैं, जिन पर लोग अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊंचा किया और उपेक्षापूर्वक कहा—"मैं इस निर्णय के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।"

न्याय-मन्त्री ने एक कर्मचारी को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय-मन्त्री ने खड़े होकर कहा—"महाशयो! यह सच है कि मैं न्यायमन्त्री हूं। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है कि एक राजकर्म्मचारी की हत्या की गई है। उस का दण्ड अवश्यम्भावी है। परन्तु शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दण्ड दे सकता है। यह काम न्याय-मन्त्री की शक्ति से बाहर है। अतएव मैं आज्ञा देता हूं कि महाराज को चेतावनी देकर छोड़ दिया जाए, और उन की यह मूर्ति फांसी पर लटकाई जाए, जिस से लोगों को शिक्षा मिले।"

न्याय-मन्त्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध हो गए। वे कहते थे, यह मनुष्य नहीं देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है, न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्तःकरण की आवाज़ सुनता है और उस पर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बांधकर खड़ा हो जाता। परन्तु इस ने उन्हें "तुम" कहकर सम्बोधन किया है, मानो कोई साधारण अपराधी हो। उन के शरीर में रोमाञ्च हो आया। सहस्रों नेत्रों ने आनन्द के आंसू बहाए और सहस्रों जिह्वाओं ने ज़ोर ज़ोर से कहा—"न्याय-मन्त्री की जय।"

रात हो गई थी, न्याय-मन्त्री राज-महल में पहुंचे और अशोक के सम्मुख अंगूठी और मुद्रा रखकर बोले—"महाराज! यह अपनी वस्तुएं संभालें। मैं अपने गांव वापस जाऊंगा।"

अशोक ने सम्मान भरी दृष्टि से उन की ओर देखकर कहा—"आज आप ने मेरी आंखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?"

"परन्तु श्रीमन्.........।"

अशोक ने बात काट कर कहा—"आप का साहस और न्याय मैं कभी न भूलूंगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे अपने राज्य में कोई दूसरा व्यक्ति इस पद के योग्य नज़र नहीं आता।"

न्याय-मन्त्री निरुत्तर हो गये।

पाप-परिणाम

(१)

रात के दो बजे साधु अपने गर्म विस्तरे से उठा, और नदी के तट पर जाकर खड़ा हो गया।

चारों ओर अन्धकार था। आकाश में तारे आंखें मींचते थे। किसी ओर से कोई हलका सा भी शब्द न सुनाई देता था। संसार और उस का कोलाहल इस शून्य अन्धकार में इस प्रकार डूब चुके थे, जिस प्रकार कोई नौका अपने यात्रियों समेत समुद्र की गरजती हुई लहरों में समा जाए। साधु के पांव की चाप दूर दूर तक सुनाई दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानों प्रकृति की निस्तब्धता उस साधु के कुसमय के हस्तक्षेप के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। परन्तु जिस प्रकार साधु ने मनोहर स्वप्नों से भरे हुए गर्म बिस्तर और उस के शोभा मय सुख तथा विश्राम का विचार न किया था, उसी प्रकार प्रकृति की इस मौन-भञ्जक चीख़-पुकार की परवा न की, और अपनी कुटिया से निकल कर नदी-तट पर पहुंच गया।

पानी बहुत ठण्डा था, जैसे किसी बेपरवा नौकर ने अपने शराबी मालिक के बार बार के तगादों से तङ्ग आकर थोड़े से पानी में बहुत सी बर्फ़ डाल दी हो। साधु ने उस की ओर देखा और उस का हृदय कांप गया। उस ने बैठ कर पानी में हाथ डाला और डर पीछे हटा लिया। मालूम होता था, नदी भी इस हस्तक्षेप को सहन न करती थी। उस ने अपने सम्पूर्ण बर्फ़ानी प्रभाव की परीक्षा साधु के हाथ पर की, और परिणाम देखने के लिये ठहर गई। परन्तु साधु पर इस का कोई प्रभाव न पड़ा। उस ने तत्काल अपनी काली कमली शरीर से अलग की, और आंखें बन्द कर के जल में कूद पड़ा।

साधु पर मूर्छा की सी दशा छा गई। वह जल के साथ साथ इस प्रकार बहने लगा जैसे कोई अपराधी सिपाहियों से घिरा हुआ थाने को जा रहा हो। एका-एक वह अपने पांव नदी के जल से भी अधिक ठण्डी रेत पर जमा कर खड़ा हो गया, और अपने शरीर तथा आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से तट पर जा चढ़ा। इस समय उस के मुख पर आनन्द बरसता था। अपराधी सिपाहियों के घेरे से बाहर निकल आया था।

थोड़ी देर के बाद वह अपनी कुटिया में वापस आ गया, और अपने बिस्तर के पास खड़ा होकर उस को बेबसी की दृष्टि से देखने लगा, जैसे कोई भूख का मारा

ग़रीब धनवान् मनुष्य को अच्छे अच्छे खाने खाते देख कर व्याकुल हो जाता है। परन्तु इस के सिवा कुछ नहीं कर सकता कि अपनी बेबसी पर सन्तोष करे। यहां उस ने अपनी कमली फिर उतार दी और कोने से एक कोड़ा उठा कर उसे अपनी देह पर पूरे बल से मारने लगा।

वायु मण्डल उस के करुण-क्रन्दन से गूंज रहा था। परन्तु वह अपनी देह पर उसी ज़ोर से कोड़े बरसा रहा था, मानों उस का हाथ उस के शरीर का एक अङ्ग न रहा हो, और वह किसी मनुष्य नहीं किन्तु निर्जीव मांस-पिण्ड पर अपने बल की परीक्षा कर रहा हो।

जब प्रभात का प्रकाश हुआ तब लोगों ने देखा कि साधु अपनी कुटिया के ठण्डे फर्श पर अचेत पड़ा है और उस के अङ्गों से रक्त बह रहा है। उन्होंने आग जलाई और उस के ठण्डे शरीर को कम्बल में लपेट कर उस के निकट रख दिया। जब दो तीन घण्टे बीत गए तब उस ने आंखें खोलीं, और ठंडी सांस लेकर उठ बैठा।

परन्तु अब उस में वह धैर्य न था। उस का स्थान सिसकियों और हिचकियों ने ले लिया था। कुछ देर बाद जब उस के आंसू थमे, तो उस ने अपने हाथ आग पर गर्म करते हुए कहना आरम्भ किया—

(२)

पचास वर्ष बीते, मैंने निर्धनता की दशा में संसार के

संग्राम-क्षेत्र में पांव रक्खा। उस समय न हमारी आवश्यकताएं इतनी अधिक थीं, न जीवन-सामग्री इतनी महंगी। पचास-साठ रुपये महीना कमाने वाला मनुष्य राजा समझा जाता था। मैंने अपनी आंखों से ऐसे मनुष्यों को देखा है जो पन्द्रह-बीस रुपए कमाते थे, और दस बारह मनुष्यों के कुटुम्ब का पालन करते थे, और बड़े राजसी ठाठ से। अब ये बातें स्वप्न हो गई हैं। लोग इन पर विश्वास नहीं करते। रुपए का मूल्य चवन्नी भी नहीं रहा। उस समय लोग निर्धन न हों, सो नहीं है। मैं स्वयं निर्धन था, ऐसा निर्धन कि कई कई दिन अन्न के बिना बीत जाते थे। मैंने कई जगह नौकरी का यत्न किया परन्तु कहीं सफलता न हुई। छोटा काम करने को जी न चाहता था। लोक-लाज पांवों की जञ्जीर बन जाती थी। मगर जब कई महीने खाली बैठे बीत गए तब लज्जा दूर हो गई। मैंने मिठाई का खोन्चा लगा लिया। थोड़े ही दिनों मे हालत बदल गई। सुख से दिन कटने लगे, यहां तक कि मेरे पास डेढ़ सौ रुपया नगद जमा था।

इतने रुपए आज-कल के समय में 'कुछ नहीं' के बराबर है। परन्तु उस समय लोग इस रुपये को एक भारी रक़म समझते थे। मेरी खुशी का ठिकाना न था। ऐसा प्रसन्न फिरता था, जैसे किसी को पटवारगिरी मिल गई हो। हंसने की बात नहीं, पटवारी का पद उस समय ऐसा भारी

पद था जैसे आज-कल डिप्टी कमिश्नरी भी नहीं। मेरे दिन अच्छे थे, दो परिश्रमी मनुष्यों से भेंट हो गई। उन्होंने कहा, क्या मज़दूरी कर रहे हो, हमारे साथ मिलकर व्यापार करो तो थोड़े दिनों में सोना हो जाओ।

बात साधारण थी, परन्तु मेरे दिल में शौक पैदा हो गया मैंने खोंचे का काम छोड़ दिया, और उन के साथ मिलकर व्यापार करने लगा। हम एक स्थान से सस्ता माल खरीदते थे, दूसरे स्थान पर महंगे भाव बेच देते थे। थोड़े ही दिनों में रुपया कंकरों की तरह आने लगा। पता नहीं, भाग अच्छे थे अथवा हमारी बुद्धि का चमत्कार था, मिट्टी को हाथ लगाते तो वह भी सोना हो जाती थी। व्यापार में लाभ भी होता है, हानि भी। परन्तु परमात्मा जिसे देने पर आता है उसे हानि नहीं होती। मालूम होता है, परमेश्वर उन दिनों हम को देने पर तुला हुआ था। हमें किसी सौदे में हानि न होती थी। इसी प्रकार तीन वर्ष बीत गए। उस समय हमारे पास बहुत सा रुपया था। हम ने छोटे-मोटे सौदे करने छोड़ दिए और जेहलम में लकड़ी का काम करने लगे। यह काम धीरे धीरे इतना बढ़ा कि हम को इस पर स्वयं आश्चर्य होता था। रुपया पानी की तरह आने लगा। दस वर्ष के बाद जब हिसाब किया गया तो हमारे हिसाब में दो लाख से ऊपर रुपया जमा था। अब हमारे दिलों में मैल आने लगा। जब तक निर्धन थे तब तक एक दूसरे पर विश्वास था,

अब धनवान हुए तो वह विश्वास जाता रहा। एक दूसरे पर आंख रखने लगे। कभी कभी जोश में भी आ जाते थे। दौलत ने आंखों पर परदे डाल दिए थे। हम में से प्रत्येक यही चाहता कि दूसरे भाईवाल मर जाएं तो सारा धन उसी का हो जाए। कुछ दिन तक यह भाव दबे रहे, जैसे राख तले अंगारे दबे रहते हैं। परन्तु कब तक ? अन्त में निश्चय हुआ कि हिस्सेदारी तोड़ दी जाए और सब अलग अलग हो जाएं। अब अग्नि के चिंगारे राख से बाहर निकल आए थे।

(३)

मेरे भाईवाल लाला प्रभुदास और लाला हिकमतराय थे। प्रभुदास समझदार मनुष्य था और बुरा न था। जो कुछ जी में आता, मुंह से कह देता। वह कोई बात छिपाता न था, न छिपाना चाहता था। उस की यह दुष्ट प्रकृति (?) हमें एक आंख न सुहाती थी। इस के विपरीत हिकमतराय बड़ा चतुर था। वह अपने भावों को मुख पर न आने देता था। हृदय में क्रोध भी होता तो हंस हंस कर बातें करता, जैसे उसे कोई दुःख ही नहीं। मैं उस के इस गुण (?) पर मुग्ध हो गया। पीतल पर सोने का धोखा हो रहा था। जब किसी बात पर झगड़ा होजाता तब मैं और हिकमतराय एक ओर होते, अकेला प्रभुदास दूसरी ओर। हम दोनों के सामने उस की एक

न चलती थी। दो भेड़ियों के सामने एक ग़रीब कुत्ता कभी नहीं ठहर सकता।

जब अलग अलग होने का निश्चय हो गया तो हिकमत-राय मेरे पास आया, और बोला, "तो अलग अलग होने की नौबत आ गई।"

मैंने उस के मुंह की ओर देखते हुए कहा, "और क्या हो सकता है?"

"यदि यह न होता तो अच्छा था।"

"परन्तु अब तो इकट्ठे न निभेगी।"

"लोग क्या कहेंगे?"

"कहने दो। हम कर ही क्या सकते हैं?"

हिकमतराय ने ठंडी सांस भर कर कहा, "इस प्रभु-दास ने काम बिगाड़ दिया। नहीं तो हम कभी अलग न होते।"

"मेरे सामने उस का नाम न लो।"

"मुझे यह कल्पना भी न थी कि वह ऐसा मायावी पुरुष होगा।"

"जी चाहता है, उसे गोली से उड़ा दूं।"

"उसे अपनी नेकदिली का बड़ा घमंड है।"

"दूसरों को तुच्छ समझता है। अब उस के साथ काम करने को जी नहीं चाहता।"

हिकमतराय ने मेरे पास सरक कर रहस्य पूर्ण दृष्टि से

कहा—"अस्सी हज़ार रुपये के लगभग ले जाएगा।"

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने कूँएँ में धकेल दिया हो। कलेजा ज़ोर ज़ोर से धड़कने लगा। कहा, "बिलकुल नासमझ है, सारा काम हम दोनों करते रहे हैं। भाग वह भी बराबर का ले जाएगा।"

"इस में क्या सन्देह है।"

"मेरा बस चले तो उसे कौड़ी न दूं।"

"दुहाई मचा देगा। पानी पीना मुश्किल कर देगा।"

"क्या कोई उपाय नहीं?"

हिकमतराय ने आकाश की ओर देखकर कहा, "परमात्मा उसे मौत दे, तो हमारा काम बन जाए।"

जिस प्रकार सर्प का विष देखते देखते मनुष्य के शरीर में फैल जाता है, उसी प्रकार ये शब्द मेरे मस्तिष्क में समा गए। सोचने लगा, क्या उसे मौत नहीं आ सकती। दो दिन इसी उधेड़-बुन में बीत गए। तीसरे दिन पता लगा कि प्रभुदास बीमार है। मैं ज़मीन से उछल पड़ा। आशा-लता लहलहाती दिखाई देने लगी। हिकमतराय से सलाह करके भागा भागा डाक्टर के पास गया। देर तक एकान्त में बातें होती रहीं, परन्तु डाक्टर सहमत न होता था। मैं हारे हुए जुआरियों की तरह रुपए बढ़ाता जाता था, यहां तक कि पांच हज़ार पर बात तय हो गई, और उस ने प्रभुदास की औषधि में एक विशेष प्रकार का चूर्ण मिला दिया। उस

समय में ऐसा प्रसन्न था, जैसे किसी को रियासत मिल गई हो। प्रभुदास रात को मर गया। उस ने अभी तक ब्याह न किया था, न उस का कोई निकट-सम्बन्धी था। एक दूर के सम्बन्धी ने दावा कर के हिस्सा लेने की धमकी दी। परन्तु हम ने कह दिया कि वह हमारा नौकर था, हिस्सेदार न था। सहानुभूति के रूप में हम ने उसे कुछ रुपए भी दे दिए। इन रुपयों ने उसका मुंह बन्द कर दिया। प्रभुदास का रुपया आधा मैंने ले लिया, आधा हिकमतराय ने। उस समय मुझे तनिक विचार न आया कि यह पाप है। परन्तु आज उस की स्मृति से भी प्राण निकलते हैं।

(४)

उन दिनों मेरा ब्याह हो चुका था, परन्तु सन्तान कोई न थी। हम दोनों पति-पत्नी पुत्र का मुख देखने को तरसते थे। कभी साधुओं के यहां जाते, कभी वैद्यों की औषधियां खाते, परन्तु इन से कुछ न बनता था। जब रुपया बट चुका, तो, मैंने स्त्री को लेकर हरद्वार की यात्रा की और दो तीन महीने वहीं टिका रहा। उस समय मुझे विचार आता था कि मैंने पाप किया है, मुझे सुख न मिलेगा। इस विचार से मेरा हृदय व्याकुल हो जाता था, जैसे किसी ने मछली को गरम रेत पर रख दिया हो, आंखों में आंसू भर आते थे। यही चाहता था, यदि सम्भव हो तो बीता हुआ समय

लौटा लूं। परन्तु यह असम्भव था। तब मैं इस विचार को मन से भुला देने का यत्न करता था, और साधु-सन्तों की सेवा करके अपने विचार के अनुसार पाप के कलङ्क को धो देता था। यदि मुझे उस समय ज्ञान होता कि यह काम इतना सुगम नहीं जितना मैं समझ रहा हूं तो मैं कभी बेपरवाई न करता।

मगर मुझे अपने पाप का दण्ड न मिला, प्रत्युत उसी वर्ष मेरे यहां एक पुत्र उत्पन्न हो गया। मेरे आनन्द का पारावार न था। मेरे पांव भूमि पर न पड़ते थे। सोचता था, मेरे जैसा भाग्यवान कौन होगा? धन और सुन्दर स्त्री पहले ही से प्राप्त थे, अब सन्तान भी हो गई। संसार इन्हीं तीन वस्तुओं पर मरता है, मेरे पास तीनों थीं। कारोबार आरम्भ किया, उस में भी सफलता हुई। अब पाप की स्मृति भी न रही। संसार की क्षणिक सफलताओं और थोड़े दिन के सुखों ने उसे आंख से ओझल कर दिया। पुण्य कर्म संसार का प्रकाश है, यह विचार मिथ्या सिद्ध हुआ। संसार में पाप फलता है, यह बात सिद्ध हो गई। ज्यों ज्यों बेटा बड़ा होता गया, आशा अपनी चादर फैलाती गई। पहले उस की शिक्षा का प्रबन्ध घर पर किया गया, पश्चात् स्कूल भेज दिया। तुम से क्या कहूं, वह कैसा प्यारा और सरल-हृदय था। उस के चेहरे पर भोलापन खेलता था। जो देखता, कहता, बड़ा भाग्यवान लड़का है। माता-पिता का नाम

रोशन करेगा। मैं यह सुनता, तो आनन्द से झूमने लगता। परन्तु कभी कभी किसी अज्ञात भय से हृदय पर बोझ सा आ पड़ता, जैसे कोई कलेजे पर पत्थर सा रख देता हो।

इसी प्रकार बीस वर्ष बीत गए। वंशीलाल ने बी० ए० की परीक्षा पास कर ली और लॉ कालेज में पढ़ने लगा। मैं यह देखता था, और प्रसन्न होता था। सोचता था, एक दो वर्ष की बात है, वंशीलाल वकील हो जाएगा। उस के पश्चात् जजी मिलना कुछ कठिन नहीं। इस विचार से मेरा हृदय प्रफुल्लित हो जाता था। उन दिनों को आज भी स्मरण करता हूं तो नेत्रों से लहू के आंसू बहने लगते हैं। मेरा जीवन चांदनी रात के समान था, जिस में नाच और रङ्ग-रेलियां हो रही हों। सहसा यह मधुर सङ्गीत करुणा-विलाप में बदल गया—मेरी स्त्री को ज्वर आने लगा। यह ज्वर कोई साधारण ज्वर न था। सावधानी से इलाज होने लगा। परन्तु एक महीना बीत गया, ज्वर न उतरा। दूसरा और तीसरा महीना भी इसी प्रकार व्यतीत हो गया और आराम न हुआ। अब मुझे भी चिन्ता हुई। लाहौर ले जाकर इलाज कराने का विचार किया। उन दिनों पञ्जाब में डाक्टर हैनरी वुड के डंके बजते थे, उसे दिखाया। उस ने बड़े ध्यान से देखा, और मुझ से एकान्त में कहा, "तपेदिक़ है, अब न बचेगी।"

यह सुनकर मेरे हाथों के तोते उड़ गए। ऐसा मालूम

हुआ, जैसे आकाश सिर पर गिर पड़ेगा। डाक्टर की बात का विश्वास न हुआ। आश्चर्य से बोला—"तपेदिक़ है क्या?"

"हां तपेदिक़। शायद बच जाए, नुसख़ा लिखे देता हूं। मगर कोई आशा नहीं?"

मैंने पूछा—"किसी पहाड़ पर ले जाऊं तो कैसा रहे?"

"ज़िन्दगी ज़रा लम्बी हो सकती है, मगर बीमारी न जाएगी।"

"डाक्टर साहब! आपसे जो कुछ हो सकता है, कीजिए।"

मेरी आंखों में आंसू थे, शब्दों में हृदय की व्यथा। डाक्टर साहब ने करुणापूर्वक कहा—"मैं अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश करूंगा, मगर आप यह बात मरीज़ा पर ज़ाहिर न होने दें।"

परन्तु यह बात उस पर प्रकट हो गई। पता नहीं किस तरह? एक दिन उस ने मुझ से रोते रोते कहा, "मेरे मरने में अब अधिक दिन नहीं। अब बंसी का ब्याह कर दो, यह तो अपनी आंखों से देख लूं।"

और मैंने उस की यह मनोकामना पूरी कर दी। उसी महीने बंसी का ब्याह हो गया। इस के बाद हम सब सोलन चले गए। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती।

(५)

परन्तु वह न बची। छः मास के पश्चात् उस का जीवन-

प्रदीप निर्दयी मृत्यु के निष्ठुर झोकों ने बुझा दिया। मुझ पर विपत्ति टूट पड़ी। और वंशी की दशा तो देखी न जाती थी। किसी ब्याहे हुए लड़के को अपनी माता से इतना प्रेम हो सकता है यह मेरे लिए नया अनुभव था। वह फूट फूट कर रोता था। मैं उसे समझाता था धीरज देता था, परन्तु उस का रोना कम न होता था। उस का उदास मुख देखकर मुझे अपना दुख भूल जाता था। मुझे कोई ऐसा दिन याद नहीं जब बंसी मां को याद कर के न रोया हो। कभी वह पुस्तकों का कीड़ा था परन्तु अब पुस्तक देखने को उस का जी न चाहता था। हारमोनियम का शौक़ था, वह भी न रहा, दिन-रात उदास रहने लगा। मेरे हृदय में नई चिन्ता उत्पन्न हुई। मैंने उस का जी बहलाने का यत्न किया, परन्तु मुझे इस में भी सफलता न हुई। लोग अपने पुत्रों के विषय में शिकायत करते हैं कि उन्हें माता-पिता से स्नेह नहीं। मैं चाहता था कि कदाचित् बंसीलाल में यह दोष होता तो ये दिन न देखना पड़ता। परन्तु जो ललाट में लिखा हो उसे कौन मिटाए। बंसीलाल भी बीमार रहने लगा।

इतने में मालूम हुआ, मेरा कारोबार नष्ट हो गया है। जिस कारिन्दे के हाथ मैंने काम-काज सौंप रक्खा था उस ने मुझे धोखा दिया और दो-अढ़ाई लाख रुपया उड़ा कर भाग निकला। यह देख कर मेरे पांव-तले की मिट्टी निकल गई। बंसीलाल और उस की स्त्री को सोलन छोड़ कर जेहलम

पहुंचा। परन्तु वहां कारिन्दा कहां था? समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिए, पुलिस में रिपोर्टें कीं, लेकिन वह न पकड़ा जा सका, न डूबा हुआ रुपया बचा। मैंने कारोबार के संभालने का असीम प्रयत्न किया, मगर वह न संभला। दिन पर दिन दशा बिगड़ती गई। जिस काम में हाथ डालता था उसी में हानि हो जाती थी।

इस प्रकार चार महीने बीत गए, और बंसीलाल और उस की स्त्री सोलन से लौट आए। उस का मुंह देख कर मेरे प्राण होठों तक आ गए। मैं डाक्टर नहीं हूं, न मैंने चिकित्सा का कोई ग्रन्थ देखा है। परन्तु मैंने अपनी स्त्री की बीमारी देखी थी। मुझे बंसीलाल के मुख पर वही रंग दिखाई दिए, जो मेरी मृत-पत्नी के मुख पर थे। मेरे कलेजे पर जैसे किसी ने अङ्गारे रख दिए। मैंने बंसीलाल से कुछ न कहा, परन्तु अपने कमरे में जाकर रात भर रोता रहा। दूसरे दिन डाक्टर को दिखाया। मेरी आंख फड़कने लगी—मां के बाद पुत्र की बारी थी। फिर तपेदिक़। मेरा मस्तिष्क चकराने लगा। मैंने निश्चय कर लिया कि अपनी बची-खुची सम्पत्ति लुटा दूंगा, डाक्टर की सम्मति पर अक्षरशः चलूंगा, साव-धानी में कोई कसर न उठा रक्खूंगा, और इस प्रकार पुत्र को मृत्यु के पञ्जे से छुड़ा लूंगा। मैं बंसी और उस की स्त्री को लेकर सोलन चला गया। परन्तु रोग कम न हुआ। डाक्टरों ने सम्मति दी कि उसे स्विट्ज़रलैण्ड के सैनिटोरि-

यम में भेज दो, वहां जाकर बच सकता है। मेरे पास पन्द्रह हज़ार के लगभग रुपया बच रहा था। यह रुपया मुझे बहुत प्यारा था, परन्तु बंसीलाल के सम्मुख उस की क्या तुलना थी? मैंने उसे स्विट्ज़रलैण्ड भेज दिया।

वह वहां दो वर्ष रहा। वहां उस का स्वास्थ्य बहुत कुछ अच्छा हो गया। यहां तक कि मेडिकल-बोर्ड ने फ़ैसला दे दिया कि उसे अब कोई बीमारी नहीं है। इस सूचना से मेरे आनन्द का पारावार न रहा सारा दिन नाचता फिरता था। बंसीलाल ने अपना फ़ोटो भी भेजा था। उस से देख पड़ता था कि पहले की अपेक्षा उस का स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। चेहरा भी भर गया था। अब मैं उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा कि वह कब वापस आए और मैं उसे प्रेम से गले लगाऊं। परन्तु जब वह दिन आया तब मेरी आशाओं पर ओस पड़ गई। बंसीलाल हिन्दुस्तान आ गया, परन्तु अपना स्वास्थ्य वहीं छोड़ आया। यदि मेरे पास और रुपया होता तो मैं रुपये का मुंह न देखता। मगर मेरी अवस्था दिन पर दिन गिर रही थी। मैंने अपनी ओर से पूरा यत्न किया कि कहीं से रुपया मिल जाए तो बंसी को फिर स्विट्ज़रलैण्ड भेज दूं, परन्तु रुपये का प्रबन्ध न हो सका।

(६)

छः महीने बीत गए।

प्रातःकाल था। मैं बंसीलाल के पास बैठा उस के मुंह

की ओर देख रहा था। आज उस की अवस्था बहुत बिगड़ रही थी। न मुंह पर लाली थी, न आंखों में चमक। उन के स्थान पर लाश की सी ज़रदी छा गई थी। मैं यह देखता था और रोता था। उस समय मेरा सारा जीवन मेरी आंखों के सामने था। वे दिन याद आ गए जब मैंने मिठाई का खोन्चा छोड़ कर व्यापार आरम्भ किया था। पास धन न था, परन्तु हृदय में शान्ति का वास था। अब वे दिन कहां थे? मैंने जेब में हाथ डाल कर देखा तो उस समय मेरे पास केवल डेढ़ सौ रुपये थे। मैं चौंक पड़ा। भूली हुई घटनाएं आखों-तले फिर गईं। इतने ही रुपयों से मैंने व्यापार आरम्भ किया था। उस समय न स्त्री थी, न पुत्र। क्या परमात्मा मुझे आज फिर उसी दशा में फेंकने का प्रबन्ध कर रहा है। स्त्री पहले जा चुकी थी, बेटा अब जा रहा था।

एकाएक बंसीलाल ने ज़ोर से अंगड़ाई ली और चारपाई पर तड़पने लगा। मैंने हृदय को अन्तिम चोट के लिए तैयार किया, और उठ कर मरने वाले के ऊपर झुक गया। वह जान तोड़ रहा था। मैंने भर्राई हुई आवाज़ से कहा—"बंसी!"

बंसी ने बेहोशी में उत्तर दिया—"हां।"

"होश करो।"

"हां होश में हूं।"

"मैं कौन हूं?"

बंसीलाल ने मेरी ओर बड़े ध्यान से देखा और तब कहा, "मेरा भाईवाल।"

यदि मेरे गले में सांप लिपट जाता तो भी मुझे ऐसा आश्चर्य न होता जैसा इस उत्तर से हुआ। हृदय पर घोर आतङ्क सा छा गया, मानो किसी ने फांसी के तख़्ते पर चढ़ा दिया हो। परन्तु मुझे फिर विचार आया, बंसी बेसुध है, यों ही बड़बड़ा रहा है, इस लिए मैंने फिर पूछा—

"बंसी!"

"हां।"

अब स्वर अधिक स्पष्ट था।

"यह कौन है?"

इशारा उस की स्त्री की ओर था।

बंसी ने अपनी पथराई हुई आंखें अपनी स्त्री की ओर उठाईं और कहा—"डाक्टर।"

"तुम कौन हो?"

"प्रभुदास।"

सन्देह निश्चय बन गया। मैं खड़ा न रह सका। मेरे शरीर की शक्ति जैसे पृथ्वी ने खींच ली। पाप का परिणाम ऐसा दुःखदायक होगा यह ख़्याल भी न था।

मैंने पुनर्जन्म की कथाएं सुनी थीं, परन्तु उन पर विश्वास न आता था। इस समय प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया।

बंसी मर गया, मेरी आंखों में आंसू न थे। उन्हें पापों

की अग्नि ने सुखा दिया था। मैंने उस का दाह-संस्कार किया और जेहलम से निकल आया। उस के पश्चात् मैंने आज तक वहां पांव नहीं रक्खा।

अब मैं प्रति दिन अपने शरीर को कष्ट देता हूं, कोड़े मारता हूं और प्रत्येक मनुष्य को यह कहानी सुनाता हूं, और फिर लोगों के सामने सिर झुकाकर प्रार्थना करता हूं कि मेरे सिर पर पांच पांच जूते लगा दो। कदाचित् इसी से मेरा पाप धुल जाए।

यह कहते कहते साधु ने अपना सिर नीचे झुका दिया।

कमल की बेटी

(१)

रात्रि का समय था, चन्द्रमा की धवल किरणें पृथ्वी को अपनी शीतल चांदनी में स्नान करा रही थीं। श्रीकृष्ण ने ठंडी सांस भरी और कहा, 'मेरा विचार झूठा निकला। मनुष्य संसार का सर्वोत्तम पदार्थ नहीं। कमल का यह फूल जो वायु के झोकों के साथ क्रीड़ा कर रहा है, उस से कहीं अधिक मनोहर और दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है। उस की पंखड़ियां कैसी सुन्दर हैं उसका रङ्ग कैसा मनोहारी है, उस का रूप कैसा अनुपम और नयनाभिराम है। सौन्दर्य के बाज़ार में यह निर्जीव पुष्प सकल संसार की सब से अधिक रूपवती कामिनी को भी परास्त कर सकता है। प्रत्युत्त यदि जगत का सम्पूर्ण सौन्दर्य एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाए, तब भी उस में यह मोहिनी नहीं आ सकती, जो इस अकेले फूल के अन्दर समाई हुई है। मैं चाहता हूं कि इस प्रकार की एक लड़की उत्पन्न करूं, जो मनुष्यों में ऐसी हो,

जैसे फूलों में कमल। जिस से संसार के अंधेरे कोण जगमगा उठें, और जिस के सम्मुख श्यामा का सङ्गीत भी मन्द पड़ जाए।"

यह सोच कर श्रीकृष्ण कुछ क्षण चुप रहे, और फिर एकाएक अपनी सांवरी अंगुली उठा कर बोले—'हे कमल के निर्जीव पुष्प! एक सजीव सुन्दरी के रूप में बदल जा, और मेरे सामने खड़ा हो।"

जल की लहरों ने अपने आप को सरोवर के तटों के साथ टकराया। रात्रि अधिक सुन्दर हो गई। चन्द्रमा की किरणें अधिक प्रकाशमान हो गईं। सरोवर का जल मोतियों के समान चमकने लगा, मानों चन्द्रमा की चांदनी उस में हल हो गई। सोती हुई चिड़ियां अपने प्राणों की सम्पूर्ण शक्ति से गाने लगीं, और कुछ देर के बाद सहसा चुप हो गईं। कमल के फूल ने जल में डुबकी लगाई और एक लावण्यवती सुन्दरी अपने पंखड़ियों के सदृश कोमल वस्त्र निचोड़ती हुई बाहर निकली।

श्रीकृष्ण का हृदय प्रसन्नता से धड़क रहा था। उन्होंने कमल की बेटी को देखा और कांपती हुई आवाज़ में कहा—"पहले तुम कमल का निर्जीव फूल थीं, अब तुम कमल की सजीव बेटी हो। बातें करो।"

कमलकुमारी ने सिर झुका कर बोलना आरम्भ किया, वायु में सुगन्ध भर गई—"महाराज! मैं आप के आदेश से

उत्पन्न हुई हूं, आप की आज्ञा का पालन करूंगी। कृपया कहिए, मैं कहां निवास करूं ?"

श्रीकृष्ण ने चन्द्रमा की ओर टकटकी लगा कर देखा और उत्तर दिया—" पुष्पवाटिका में।"

" महाराज ! वहां वायु फूलों को थपेड़े मारती है।"

" क्या तुम पर्वतों की ऊंची चोटियां पसन्द करोगी ?"

" वहां बर्फ़ है। शीत से मेरा हृदय कांपने लगेगा।"

" अच्छा ! तो समुद्र तल में। वहां मैं तुम्हारे लिए मूंगे का महल बना दूंगा।"

" परन्तु वह बहुत गहरा है।"

श्रीकृष्ण ने मुस्करा कर पूछा—" तो फिर तुम्हें कहां रक्खें. क्या हिमालय की कन्दराओं में ?"

कमल की बेटी का अङ्ग अङ्ग थर्रा गया। उस ने कांपते हुए कहा—" वहां अन्धेरा है।"

" कमल के फूलों के पास, जल के ऊपर ?"

" वहां काई है।"

" निर्जन वनों में ?"

" वहां एकान्त है। इस से मेरा रक्त नाड़ियों में जम जाएगा।"

श्रीकृष्ण ने माथे पर हाथ फेरा। इस समय उन का चित्त बहुत उदास था। उन्होंने अपनी बांसुरी निकाली, और उसे बजाने लगे।

(२)

रात्रि बीत गई। सूरज की किरणें जल पर नाचने लगीं। सरोवर का जल, ताड़ के पत्ते, वृक्षों पर रहने वाले पक्षी, निद्रा से जागे। प्रकृति में नए सिरे से जान आ गई।

श्रीकृष्ण ने कहा, "यह कवि है।"

सरोवर के निर्मल जल पर एक लम्बी छाया दिखाई दी। वायु में किसी की मदभरी तान गूंजी। हरी हरी घास पर किसी के पांव की हलकी सी चाप सुनाई दी। और थोड़ी दूरी पर एक नवयुवक हाथ में वीणा लिए आता दिखाई दिया। श्रीकृष्ण ने उसे देखा, और फिर दुबारा कहा, "यह कवि है!"

कवि समीप आया—एक दूसरा सूरज उदय हो गया। उस ने कमल की बेटी को देखा तो वीणा उस के हाथ से गिर गई और पांव भूमि में गड़ गए, जैसे किसी ने उन में बेड़ियां डाल दी हों। श्रीकृष्ण ने कमल के फूल को जीती-जागती लड़की बनाया था, लड़की के अनुपम लावण्य ने कवि को आश्चर्य की मूर्त्ति बना दिया।

श्रीकृष्ण ने पूछा—"कवि! क्या हाल है?"

कवि ने चौंककर वीणा संभाली और सिर झुका कर उत्तर दिया—"मैं प्रेम करता हूं, प्रेम के पद बनाता हूं, और प्रेम का संगीत गाता हूं⋯मेरे जीवन का एक एक क्षण प्रेम के लिए अर्पण हो चुका है।"

यह कहते कहते कवि ने कमल की बेटी की ओर प्यासे नेत्रों से देखा।

श्रीकृष्ण बैठे थे, खड़े हो गए और बोले, "सुन्दरी! मुझे तुम्हारे लिए स्थान मिल गया"

"कहां?"

कवि का कलेजा धड़कने लगा, श्रीकृष्ण ने कहा "इस कवि के हृदय में जाकर रहो।"

कवि ने सिर झुका दिया। उस की वीणा के तारों से झङ्कार का शब्द निकला। कमल की बेटी सौन्दर्य के कटाक्ष से आगे बढ़ी, और कवि के हृदय में प्रविष्ट होने लगी। परन्तु एकाएक पीछे हट गई। इस समय उसका मुखमण्डल भय से हिम की तरह सफ़ेद था। श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ "क्या तुम वहां भी डरती हो?"

(३)

कमल की बेटी की आंखों में आंसू लहराने लगे। उस ने गद्‌गद् हो कर कहा "महाराज! आप ने मेरे लिए कैसा स्थान चुना है। वहां तो गगनभेदी पर्वतों की हिम से पटी हुई ऊंची ऊंची चोटियां, भयानक तरङ्गवाले समुद्र की गहराइयां, शून्य वनों का सन्नाटा और हिमालय की अंधेरी गुफ़ाएं, सब कुछ विद्यमान हैं। मैं वहां कैसे रहूंगी।"

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—"न डरो! सुन्दरी न डरो।

डरने का कोई कारण नहीं। तुम सुन्दरी हो, तुम्हारा आसन कवि का हृदय है। यदि वहां हिम है, तो तुम सूरज बनकर उसे पिघला दो। यदि वहां समुद्र की गहराई है तो तुम मोती बन कर उसे चमका दो। यदि वहां एकान्तहै, तो तुम सुमधुर सङ्गीत आरम्भ कर दो, सन्नाटा टूट जाएगा। यदि वहां अंधेरा है, तो तुम दीपक बन जाओ, अंधेरा दूर हो जाएगा।

कमल की बेटी इनकार न कर सकी। वह अब तक वहीं रहती है।

आशीर्वाद

(१)

लाजवन्ती के हां कई पुत्र उत्पन्न हुए, परन्तु सब के सब बचपन ही में मर गए। अन्तिम पुत्र हेमराज उस की आशाओं का केन्द्र था। उस का मुख देखकर वह पहले बच्चों की मृत्यु का शोक भूल जाती थी। यद्यपि हेमराज का रंग रूप साधारण दिहाती बालकों ही का सा था, तथापि लाजवन्ती उसे सब से सुन्दर समझती थी। मातृ-वात्सल्य ने आंखों को धोखे में डाल दिया था। लाजवन्ती को उस की इतनी चिन्ता थी कि प्रति क्षण उसे छाती से लगाए रहती थी, मानों वह कोई दीपक हो, जिसे बुझाने के लिए शिशिर के तीक्ष्ण झोंके बारबार आक्रमण कर रहे हों। वह उसे छिपा-छिपा कर रखती थी। कहीं उसे किसी की कुदृष्टि न लग जाए। गांव के लड़के खेतों में स्वच्छन्दता से खेलते फिरते हैं, परन्तु लाजवन्ती हेमराज को घर से बाहर न निकलने देती थी। अगर कभी निकल भी जाता, तो घबरा कर ढूंढ़ने लग जाती थी।

गांव की स्त्रियां कहतीं—"हमारे भी तो लड़के हैं, तू यों पागल क्यों हो जाती है ?" लाजवन्ती यह सुनती, तो उस की आंखों में आंसू लहराने लगते। भर्राये हुए स्वर में उत्तर देती—"क्या कहूं ? मेरा जी डरता रहता है !"

इस समय उसे अपने मरे हुए पुत्र याद आ जाते थे।

परन्तु इतना सावधान रहने पर भी हेमराज कुदृष्टि से न बच सका। प्रातःकाल था, लाजवन्ती दूध दुह रही थी। इतने में हेमराज जागा, और मुंह फुलाकर बोला—"मां !"

आवाज़ में उदासी थी। लाजवन्ती के हाथ से बर्तन गिर गया। दौड़ती हुई हेमराज के पास पहुंची, और प्यार से उस के सिर पर हाथ फेर कर बोली—"क्यों हेम ! क्या है बेटा ?"

हेमराज की आंखों में आंसू डबडबा आए, रुक-रुक कर बोला—सिर में दर्द होती है।"

बात साधारण थी, परन्तु लाजवन्ती का हृदय कांप गया। यही दिन थे, यही ऋतु, जब उस का पहला पुत्र मदन मरा था। वह भी इसी प्रकार बीमार हुआ था। उस समय भी लाजवन्ती ने उस की सेवा-शुश्रूषा में दिन-रात एक कर दिया था। परन्तु जो होना होता है, उसे कौन मेट सकता है। निर्दयी मृत्यु ने लाजवन्ती का सर्वस्व छीन लिया। लाजवन्ती उस समय इस दुःख से अधमरी सी हो गई थी। वही

घटना इस समय उस की आंखों के सामने फिर गई। क्या अब फिर—

लाजवन्ती के पैरों के नीचे से मिट्टी खिसकती सी प्रतीत होने लगी। जिस प्रकार विद्यार्थी एक बार फ़ेल होकर दूसरी बार परीक्षा में बैठते घबराता है, उसी प्रकार हेमराज के सिर-दर्द से लाजवन्ती व्याकुल हो गई। गांव में दुर्गादास वैद्य अच्छे अनुभवी थे। लोग उन्हें धन्वन्तरि समझते थे। सैंकड़ों रोगी उन के हाथों से आरोग्य होते थे। आस-पास के गांवों में उन का बड़ा नाम था। लाजवन्ती उड़ती हुई उन के पास पहुंची। वैद्य जी बैठे एक पुराना साप्ताहिक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। लाजवन्ती को देखकर उन्होंने पत्र हाथ से रख दिया, और आंखों से ऐनक उतार कर बोले—"क्यों बेटी! क्या बात है?"

वैद्य जी इस गांव के रहने वाले न थे। आयु भी पचास वर्ष से ऊपर थी। अतएव गांव की बहू-बेटियां उन से परदा न करती थीं। लाजवन्ती ने चिन्तित सी होकर उत्तर दिया—"हेम बीमार है!"

वैद्य जी ने सहानुभूति के साथ पूछा—"कब से?"

"आज ही सो कहता है, सिर में दर्द है।"

"बुख़ार तो नहीं?"

"मालूम तो नहीं होता। आप चलकर देख लेते, तो अच्छा था।"

वैद्य जी का मनोरथ सिद्ध हुआ। उन्होंने जल्दी से कपड़े पहने, और लाजवन्ती के साथ हो लिए। हेमराज बुख़ार से बेसुध पड़ा था। वैद्य जी ने नाड़ी देखी, माथे पर हाथ रक्खा, और फिर कहा—"कोई चिन्ता नहीं। दवा देता हूं. बुख़ार उतर जायगा।"

लाजवन्ती के डूबते हुए हृदय को सहारा मिल गया। उस ने दुपट्टे के आंचल से अठन्नी खोली, और वैद्य जी की भेंट कर दी। वैद्य जी ने मुख से "नहीं-नहीं" कहा, परन्तु हाथों ने मुख का समर्थन न किया।

(२)

कई दिन बीत गए, हेम का ज्वर नहीं घटा। वैद्य जी ने कई औषधियां बदलीं, परन्तु किसी ने अपना असर न दिखाया। लाजवन्ती की चिन्ता बढ़ने लगी। वह रात-रात भर उस के सिरहाने बैठी रहती। लोग आते और धीरज दे देकर चले जाते, परन्तु लाजवन्ती का मन उन की बातों की ओर न था। वह अपने मन की पूरी शक्ति से हेम की सुश्रूषा में लग रही थी।

एक दिन वैद्य से पूछा—"क्या कारण है, जो बुख़ार नहीं उतरता?"

वैद्यजी ने एक कटाक्ष-विशेष से, जो प्रायः वैद्य लोग ही किया करते हैं, उत्तर दिया—"मियादी बुख़ार है।"

लाजवंती ने तड़प कर पूछा—"मियादी बुख़ार क्या ?"

"अपनी मियाद (अवधि) पूरी करके उतरेगा।"

"पर कब तक ?"

"इक्कीसवें दिन उतरेगा। इससे पहले नहीं उतर सकता।"

"आज ग्यारह दिन हो गए हैं।"

"बस दस दिन और हैं।"

लाजवन्ती का माथा ठनका; हिचकिचाते हुए बोली—"कोई अंदेसा तो नहीं है ?"

वैद्यजी थोड़ी देर चुप रहे। इस समय वह सोच रहे थे कि उसे सच बताएं, या न बताएं। आख़िर बोले—"देखो रोग दुस्साध्य सा है, हानिकारक भी हो सकता है। मेरी सम्मति में हेम के पिता को बुलवा लो।"

लाजवन्ती सहम गई। रेत के स्थलों को मीठे जल की नदी समझकर जब मृग पास पहुंच कर देखता है कि नदी अभी तक उतनी ही दूर है, तो जो दशा उस के मन की होती है, वही दशा इस समय लाजवन्ती की हुई। उसे आशा नहीं, निश्चय हो गया था कि हेम एक-आध दिन में स्वस्थ हो जाएगा; परन्तु वैद्य की बात सुनकर उस का हृदय बैठ गया। उस का पति रामलाल सचदेव मुलतान में नौकर था। उसने उसे पत्र लिखा, वह तीसरे दिन पहुंच गया। चिकित्सा दुगनी सावधानी से होने लगी। यहां तक कि दस दिन और भी व्यतीत हो गए। अब इक्कीसवां दिन सिर पर था।

लाजवन्ती और रामलाल दोनों घबरा गए। हेम की देह अभी तक आग की तरह तप रही थी। क्या बुखार एका-एक उतरेगा ?

वैद्यजी ने आकर नाड़ी देखी, तो आतुर से होकर बोले—"आज की रात बड़ी भयानक है। सावधान रहना, बुखार एकाएक उतरेगा।"

(३)

लाजवन्ती और रामलाल, दोनों के प्राण सूख गए। वैद्य के शब्द किसी होने वाली दुर्घटना की पूर्व-सूचक थे। रामलाल औषधियां संभाल कर बेटे के सिरहाने बैठे थे। परन्तु लाजवन्ती के हृदय को कल न थी। उस ने संध्या-समय थाल में घी के दीपक जलाए, और मन्दिर की ओर चली। इस समय उसे आशा अपनी पूरी जीवन-सामग्री के साथ सामने नृत्य करती हुई दिखाई दी। लाजवन्ती अनन्यभाव से मन्दिर में पहुंची, और देवी के सामने गिरकर देर तक रोती रही। जब थक कर उस ने सिर उठाया, तो उस का मुखमण्डल शांत था, जैसे तूफान के बाद समुद्र शांत हो जाता है। उस को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो कोई दिव्य शक्ति उस के कान में कह रही है कि तूने आंसू बहाकर देवी के पाषाण-हृदय को मोम कर दिया है। परन्तु उस ने इतने ही पर संतोष न किया, मातृ-स्नेह ने भय को चरम-सीमा पर पहुंचा दिया था।

लाजवन्ती ने देवी की आरती उतारी, फूल चढ़ाए, मन्दिर की परिक्रमा की और प्रेम के बोझ से कम्पित स्वर से मानता मानी कि "देवी माता ! मेरा हेम स्वस्थ हो जाए, तो मैं तीर्थ-यात्रा करूंगी।"

यह मानता मानने के बाद लाजवन्ती को ऐसा जान पड़ा, जैसे उस के हृदय पर से किसी ने बोझ हटा लिया है। उसे निश्चय हो गया कि अब हेम को कोई भय नहीं है। लौटी, तो उस के पांव भूमि पर न पड़ते थे। उस के हृदय-समुद्र में आनन्द की तरंगें उठ रही थीं। उड़ती हुई घर पहुंची। उसके पति ने कहा—"लो वधाई हो ! तुम्हारा परिश्रम सफल होने को है, बुखार धीरे धीरे उतर रहा है।"

लाजवन्ती के मुख पर प्रसन्नता थी और नेत्रों में आशा की सुखमयी झलक। झूमती हुई बोली—"अब हेम को कोई डर नहीं है। मैं तीर्थ-यात्रा की मानता मान आई हूं।"

रामलाल ने तीर्थ-यात्रा के खर्च का अनुमान किया, तो हृदय बैठ गया, परन्तु पुत्र-स्नेह ने इस चिंता को देर तक न ठहरने दिया। उस ने बादलों से निकलते हुए चन्द्रमा के समान मुस्करा कर उत्तर दिया—"अच्छा किया, रुपए का क्या है, आता है चला जाता है। परमेश्वर ने एक लाल दिया है, वह जीता रहे।"

लाजवन्ती ने स्वामी को सुला दिया और आप रात-भर जागती रही। उस के हृदय पर ब्रह्मानन्द की मस्ती छा रही

थी। प्रभात हुआ, तो हेम का ज्वर उतर गया था। लाजवन्ती के मुख-मंडल से प्रसन्नता टपक रही थी, जैसे संध्या के समय गौओं के स्तनों से दूध की बूंदें टपकने लगती हैं।

वैद्य जी ने आकर देखा। उन का मुख-मंडल चमक उठा। अभिमान से सिर उठाकर बोले—"अब कोई चिंता नहीं।"

लाजवन्ती ने हेम की देह पर हाथ फेरते हुए कहा—"बच्चा क्या से क्या हो गया है।"

वैद्य ने लाजवन्ती की ओर देखा, और रामलाल से बोले "यह सब इसी के परिश्रम का फल है।"

लाजवन्ती ने उत्तर दिया—"देवी माता की कृपा है, अथवा आप की औषध के प्रभाव का फल है। मैंने क्या किया है?"

"मैं तुम्हें दूसरी सावित्री समझता हूं। उस ने मरे हुए पति को जिलाया था, तुमने पुत्र को मृत्यु के मुंह से निकाला है। तुम यदि दिन-रात एक न कर देती, तो हेम का बचना सर्वथा असम्भव था।"

रामलाल के होठों पर मुस्कराहट थी। इसके सातवें दिन वह अपनी नौकरी पर चले गए।

(४)

तीन मास व्यतीत हो गए; लाजवंती तीर्थ-यात्रा के लिए

तैयार हुई। अब उस के मुख पर फिर वही आभा थी; आंखों में फिर वही चमक। हेम आंगन में इस प्रकार चहकता फिरता था, जैसे फूलों पर बुलबुल। लाजवंती उसे देखती थी और फूली न समाती थी। तीर्थ-यात्रा से पहले की रात को उस के आंगन में सारा गांव इकट्ठा हो रहा था। झांझें और करतालें बज रही थीं। ढोलक की थाप गूंज रही थी। कहीं पूरियां बन रही थीं, कहीं हलुआ। उन की सुगन्धि से दिमाग़ तर हुए जाते थे। लाजवन्ती इधर से उधर और उधर से इधर आ जा रही थी, मानों उस के यहां ब्याह हो। एक ओर निश्चिन्त साधु सुलफे के दम लगा कर गांव की हवा को शुद्ध (?) कर रहे थे। उन की ओर गांव के लोग इस तरह देखते थे, जैसे किसान तहसीलदार की ओर देखते हैं। आंखों में श्रद्धा-भाव के स्थान में भय और आतंक की मात्रा कहीं अधिक थी। लाजवन्ती से कोई मैदा मांगता था, कोई घी। कोई कहता था, हलवाई गुड़ के लिए चिल्ला रहा है। कोई पूछता था, अमचूर का बरतन कहां है। कोई और समय होता, तो लाजवन्ती घबरा जाती। पर इस समय उस के मुख पर घबराहट न थी। सोचती थी, कैसा सौभाग्य है, जो यह दिन मिला।

मगर सारा गांव प्रसन्न हो, यह बात न थी। वहीं स्त्रियों में बैठी हुई एक वृद्धा स्त्री असीम दुःख में डूबी हुई थी। यह लाजवन्ती की बूढ़ी पड़ोसिन हरो थी। अत्यन्त दुःख के

कारण उस के कंठ से आवाज़ न निकलती थी। शहर होता, तो वह इस उत्सव में कभी सम्मिलित न होती, परन्तु गांव की बात थी। न आती, तो उंगलियां उठने लगतीं। आनन्द मय हास-परिहास के मध्य में उस का मस्तिष्क दुःख और शोक के कारण खौल रहा था। ठंडे समुद्र में गरम जल का स्रोत उबल रहा था। वह स्रोत शेष समुद्र से कितना परे कितना अलग था?

रात के चार बज गए। लोग खा-पीकर विश्राम करने लगे। जो बच रहा, वह ग़रीबों को बांट दिया गया। लाजवन्ती ने लोगों को बिदा किया और चलने की तैयारी में लगी। उस ने एक टीन के बक्स में आवश्यक कपड़े रक्खे, एक बिस्तर तैयार किया, कंठ में लाल रंग की सूती माला पहनी, मस्तक पर चन्दन का लेप किया। गऊ पड़ोसिन को सौंपी, और उस से बार-बार कहा—"इस का पूरा-पूरा ध्यान रखना। मैं जा रही हूं, मगर मेरा मन अपनी गऊ में रहेगा।" सहसा किसी की सिसकी भरने की आवाज़ सुनाई दी। लाजवन्ती के कान खड़े हो गए। उस ने चारों ओर देखा, कोई दिखाई न दिया। इस समय सारा गांव सुख-स्वप्न में अचेत पड़ा था। यह सिसकी भरनेवाला कौन है? यह सोचकर लाजवन्ती चकित रह गई। वह आंगन में निकल आई, और ध्यान से सुनने लगी। सिसकी की आवाज़ फिर सुनाई दी।

लाजवन्ती छत पर चढ़ गई, और पड़ोसिन के आंगन में झुककर ज़ोर से बोली—"मां हरो !"

कुछ देर तक सन्नाटा रहा । फिर एक चारपाई पर से उत्तर मिला—"कौन है, लाजवन्ती ?"

आवाज़ में आंसू मिले हुए थे।

लाजवंती जल्दी से नीचे उतर गई, और हरो के पास पहुंच कर बोली—"मां ! क्या बात है ?"

हरो सचमुच रो रही थी। परन्तु अपना दुःख लाजवन्ती के सामने कहते हुए उस के नारी-दर्प को बट्टा लगता था, इसलिए अपनी वास्तविक दशा को छिपाती हुई बोली—"कुछ नहीं।"

"रो क्यों रही हो ?"

हरो के रुके हुए आंसुओं की बाढ़ा टूट गई, उस का दुःखी हृदय सहानुभूति की एक चोट को भी सहन न कर सका। वह सिसकियां भर भरकर रोने लगी।

लाजवन्ती ने फिर पूछा—"मां ! बात क्या है ?"

हरो ने कुछ उत्तर न दिया। वह सोच रही थी कि इस समय कहूं या न कहूं ? प्रभात हो चला था; कुछ-कुछ प्रकाश निकल आया था। लाजवन्ती चलने के लिए आतुर हो रही थी। परन्तु हरो को क्या दुःख है, यह जाने बिना चले जाना उस के लिए कठिन था । उस ने तीसरी बार फिर पूछा—"मां, बता दो ना, तुम्हें क्या दुःख है ?"

हरो ने दुःखी हो कर कहा—"क्या तुम उसे दूर कर दोगी ?

"हो सका, तो दूर कर दूंगी।"

"यह असम्भव है।"

"परन्तु बतलाने में क्या हानि है ?"

हरो थोड़ी देर तक चुप रही, फिर धीरे से बोली—"बेटी का दुःख खा रहा है।"

"यह क्यों ? उस के ब्याह का खर्च तो तुम्हारे जेठ ने देना स्वीकार कर लिया है।"

"ऐसे भाग होते, तो रोना काहे का था ?"

लाजवन्ती ने अकुलाकर पूछा—"तो क्या यह झूठ है ?"

"बिलकुल झूठ भी नहीं। उस ने दो सौ रुपए के आभूषण बनवा दिए हैं, परन्तु मिठाई आदि का प्रबन्ध नहीं किया। अब चिन्ता यह है कि बारात आएगी, तो उस के सामने क्या धरूंगी ?"

लाजवन्ती ने कुछ सोच कर उत्तर दिया—" क्या गांव के लोग एक निर्धन ब्राह्मणी की कन्या का ब्याह नहीं कर सकते ?"

हरो की आंखें भर आईं। वह इस समय निर्धन थी, परन्तु उस ने कभी अच्छे दिन भी देखे थे। लाजवन्ती के प्रस्ताव से उसके आत्म-सम्मान को धक्का लगा। नया भिखारी

गालियां सुनकर पृथ्वी में गड़ जाता है। उस ने धीरे से कहा—"बेटी! यह अपमान न देखा जाएगा।"

"परन्तु इस तरह तो गांव भर की नाक कट जाएगी।"

हरो ने बात काट कर कहा—"मैं इसे सहन नहीं कर सकूंगी।"

"तो क्या करोगी? कन्या कुंवारी रक्खोगी?"

"भगवान् की यही इच्छा है, तो मेरा क्या बस है? कहीं निकल जाऊंगी।"

लाजवन्ती ब्राह्मणी की करुणा-जनक अवस्था देखकर कांप गई। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों कोई कह रहा है कि यदि यह हो गया, तो ईश्वर का कोप गांव भर को जलाकर भस्म कर देगा। लाजवन्ती अपने आप को भूल गई। उस का हृदय दुःख से पानी पानी हो गया। उस ने जोश से कहा—"चिन्ता न करो! तुम्हारा यह संकट मैं दूर कर दूंगी।"

हरो ने वह सुना, जिस की उसे इच्छा थी, परन्तु आशा न थी। उस के नेत्रों में कृतज्ञता के आंसू झलकने लगी। लाजवन्ती तीर्थ-यात्रा के लिए अधीर हो रही थी। वह सोचती थी—हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन के मन्दिरों को देख कर हृदय कली की तरह खिल जाएगा। परन्तु जो आनन्द उसे इस समय प्राप्त हुआ, वह उस कल्पित आनन्द की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ चढ़ कर था। वह दौड़ती हुई अपने घर गई, और सन्दूक़ से दो सौ रुपये लाकर हरो के

सामने ढेर कर दिए। यह रुपये जमा करते समय वह प्रसन्न हुई थी, पर उन्हें देते समय उस से भी अधिक प्रसन्न हुई।

(५)

लाजवन्ती के तीर्थ-यात्रा का विचार स्थगित करने पर गांव में आग सी लग गई। लोग कहते थे, लाजवन्ती ने बहुत बुरा किया। देवी माता का क्रोध उसे नष्ट कर देगा। स्त्रियां कहती थीं—किस शेख़ी पर रात को रतजगा किया था? साठ- सत्तर रुपए खर्च हो गए, अब घर में बैठ गई है। नहीं जाना था, तो इस दिखावे की क्या आवश्यकता थी? कोई कहती थी—देवी-देवताओं के साथ यह हंसी अच्छी नहीं, ले-देकर एक पुत्र है, उस की खैर मनाए। जो बूढ़ी थीं, वे माला की गुरियां फेरते-फेरते बोलीं—कलजुग का पहरा है, जो न हो जाए, सो थोड़ा! ऐसा तो आज तक नहीं सुना था! पर असली रहस्य का किसी को भी पता न था। धीरे धीरे यह बातें लाजवन्ती के कानों तक भी जा पहुंचीं। पहले तो उसने उनकी कुछ परवा नहीं की, परन्तु जब सब ओर यही चर्चा और यही बात सुनी, तो उस का चित्त भी डांवाडोल होने लगा। वायु ने झक्कड़ का रूप धारण कर लिया था; अब यात्री घबराने लगा।

लाजवंती सोचती थी—मैंने बुरा क्या किया? एक

निर्धन ब्राह्मणी की बेटी के विवाह में सहायता देना क्या देवी को पसंद नहीं? और, मैंने तीर्थ-यात्रा का विचार छोड़ नहीं दिया, केवल कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया है। इस पर देवी-देवता कुपित क्यों होने लगे? परन्तु दूसरा विचार उठता कि मैंने सचमुच भूल की। देवी-देवताओं की भेंट किसी मनुष्य को देना अपराध नहीं, तो और क्या है? यह विचार आते ही उस का कलेजा कांप जाता, और हेम के विषय में भयानक संशय उत्पन्न होने लग जाते। संसार बुराइयों पर पछताता है, लाजवन्ती भलाई पर पछता रही थी। दिन का चैन उड़ गया, रात की नींद हराम हो गई! उसे वहम हो गया कि अब हेम का कुशल नहीं। उसे खेलता देखती तो उस के हृदय पर कटारियां चल जाती थीं।

इसी प्रकार कई दिन बीत गए। गांव में चहल-पहल दिखाई देने लगी। हलवाई की दुकान पर मिठाईयां तैयार हो रही थीं। गांव की कुंवारी कन्याओं के हाथों में मेंहदी रची हुई थी। रात के बारह-बारह बजे तक हरो की छत पर ढोलक बजती रहती, और स्त्रियों के दिहाती गीतों से गांव गूंजता रहता। एक वह दिन था जब लाजवन्ती प्रसन्न थी और हरो दुखी। आज हरो के यहां चहल-पहल थी, परन्तु लाजवन्ती के यहां

उदासी बरस रही थी । समय के फेर ने काया-पलट कर दी थी ।

रात्रि का समय था, मन्दिर में घण्टे बज रहे थे । लाजवन्ती ने आरती का थाल उठाया, और पूजा के लिए चली । परन्तु द्वार पर पहुंच कर पांव रुक गए । उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों देवी की मूर्त्ति उसे दण्ड देने के लिए नेत्र लाल किए खड़ी है । लाजवन्ती का कलेजा धड़कने लगा । वह डर कर दरवाज़े पर बैठ गई, और रोने लगी । जिस प्रकार निकम्मे विद्यार्थी को परीक्षा के कमरे में जाने का साहस नहीं होता ।

सहसा उस ने सुना कोई प्रार्थना कर रहा है । लाजवन्ती का रोम-रोम कान बन गया । उसे निश्चय हो गया कि इस प्रार्थना का अवश्य ही मेरे साथ कुछ सम्बन्ध है, और घटना ने बतला दिया कि यह उस की भूल न थी । कोई कह रहा था—

"देवी माता ! उसे सदा सुहागिन बनाओ । उस के बेटे को चिरञ्जीव रक्खो । उस ने एक असहाय ब्राह्मणी का मान रक्खा है, तुम उस को इस का फल दो ! उस के बेटे और पति का बाल भी बांका न हो ! यह एक बूढ़ी ब्राह्मणी की प्रार्थना है, इसे सुनो और स्वीकार करो । जिस प्रकार उस ने मेरा कलेजा ठंडा किया है, उसी प्रकार उस का कलेजा ठंडा रक्खो ।

यह ब्राह्मणी हरो थी। लाजवन्ती के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। उस के सारे सन्देह धुएं के बादलों की तरह तितर-बितर हो गए। वह रोते हुए आगे बढ़ी, और बूढ़ी ब्राह्मणी के पैरों से लिपट गई।

रात्रि को स्वप्न में वह फिर देवी के सम्मुख थी। सहसा देवी की मूर्ति ने अपने सिंहासन से नीचे उतर कर लाजवन्ती को गले से लगा लिया, और कहा—"तू ने जो कुछ किया है, वह लाख तीर्थ-यात्रा से भी बढ़कर है।"

लाजवंती की आंख खुल गई। इस समय उसे ऐसी प्रसन्नता प्राप्त हुई, जैसी आज तक कभी न हुई थी।

अब आप प्रस्तुत रहें मेरा नाम न जाने कितनों के हृदय-पटों को हिला दे। इसलिए जो पुरुष अथवा देवियां अपने को निर्बल समझते हैं, मैं उन्हें पहिले ही चेतावनी देना चाहता हूं ताकि तत्पश्चात उन्हें पछताना न पड़े।

पृष्ठ २६४

पं० विश्म्भरनाथ शर्म्मा कौशिक

आप कानपुर के निवासी हैं। आयु ४६ साल के लगभग होगी। पहले "मनोरंजन" नामी गल्प-पत्रिका निकालते थे, पर अब उसे बन्द कर चुके हैं। साहित्य-सेवा आप के जीवन का लक्ष्य है। हिन्दी की कोई ही अभागी पत्रिका होगी, जो आप की कहानियों से कभी न कभी सुशोभित न हुई हो। आप के रियासत भी है। खाने-पीने को काफ़ी मिल जाता है। आजीविका की समस्या ने आप की साहित्य-सेवा में कभी बाधा नहीं डाली, सारा समय लिखने-पढ़ने की भेंट हो जाता है।

कौशिक जी की लेखन-शैली बड़ी ओजमयी और हृदयस्पर्शी है। निम्न श्रेणी के चरित्रों का चित्रण करने में आप निपुण हैं। उन की कहानियों की विशेषता सम्भाषण (Dialogue) है। प्राय: सम्भाषण ही से कहानी को उठाते हैं सम्भाषण ही से उस का विकास करते हैं, और सम्भाषण ही पर समाप्त कर देते हैं। श्री प्रेमचन्द और सुदर्शन की कहानियों में उपमाएं और अलंकार बहुत रहते हैं। कौशिक जी के हां आप को यह दोनों चीज़ें शायद ही कहीं नज़र आएं। आप की

कहानियां सादी मगर इस के साथ ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद होती हैं ।

इस समय तक आप की कहानियों के दो संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं । कुछ नाटक भी आप ने लिखे हैं । आप के एक गल्प-संग्रह का अनुवाद उर्दू में भी हो चुका है ।

The Vasudev Nath Sharma is a good Hindi writer.

उद्धार

(१)

"बेटी सुशीला, अब रहने दे। बारह तो बज गए, सवेरे देखा जाएगा। आज दिन-भर और इतनी रात काम करते ही बीती।"

रात के बारह बज चुके हैं। संसार का अधिकांश भाग निद्रा की गोद में खर्राटे ले रहा है। जाग केवल वे लोग रहे हैं, जिन्हें जागने में सोने की अपेक्षा विशेष आनन्द और सुख मिलता है, अथवा वे लोग, जो दिन को रात तथा रात को दिन समझते हैं, और या फिर वे लोग, जो रात के अंधकार और लोगों की निद्रावस्था से अनुचित लाभ उठाने को उत्सुक रहते हैं। परन्तु इन के अतिरिक्त कुछ और प्रकार के लोग भी जाग रहे हैं। ये लोग वे हैं, जिन के उदर-पोषण के लिए दिन के बारह घंटे यथेष्ट नहीं, जिन के लिए, सोने और आराम करने का अर्थ दूसरे दिन फ़ाक़ा करना है, जो निद्रा-देवी के प्रेमालिंगन का तिरस्कार केवल इसलिए कर रहे हैं कि उस

के बदले में दूसरे दिन उन्हें क्षुधा-राक्षसी की मार सहनी पड़ेगी।

उन की आंखें झुकी पड़ती हैं, सिर चकरा रहा है; परन्तु पेट को क्षुधा की यंत्रणा से बचाने के लिए वे अपनी शक्ति के बचे-खुचे परमाणुओं से काम ले रहे हैं।

एक छोटे-से घर में रेंड़ी के तेल का दीपक टिमटिमा रहा है। उसी दीपक के पास एक फटी-टूटी चटाई पर दो स्त्रियां झुकी हुई बैठी हैं। उन के सामने एक नीली मखमल का लहंगा है, और वे दोनों उस पर सलमे-सितारे का काम बना रही हैं। एक की उमर ५० साल के लगभग है, और दूसरी की २५ के लगभग। उन की रुक-रुककर चलने वाली उंगलियां काम करने से मुंह मोड़ रही हैं, और मौन-भाषा में यह कह रही हैं कि वे इतनी थकी हुई हैं कि उन से अधिक काम लेना उन पर अत्याचार करना है।

काम करते-करते सहसा वृद्धा ने सुई छोड़ दी। कुछ सेकिंडों तक आंखों पर हाथ रक्खे रहने के पश्चात् वह बोली—"बेटी सुशीला, अब रहने दे। बारह तो बज गए। सवेरे देखा जाएगा। आज दिनभर और इतनी रात काम करते ही बीती।" सुशीला उसी प्रकार काम करती हुई बोली—"नहीं, सवेरे नहीं, अभी तो लगे हाथों हो भी जाएगा। इसे सवेरे भिजवा देना चाहिए। इस की बनवाई मिले तो कुछ काम चले। घर में एक पैसा तक नहीं है। कल का खर्च कैसे चलेगा? और

कल राधे की फ़ीस भी देनी है। कई दिन से टाल रहे हैं। कल दे ही देनी चाहिए। अम्मां तुम्हें नींद आती हो तो तुम सो रहो, मैं कर लूंगी। घंटे-भर का तो काम ही रह गया है।"

वृद्धा बोली—"बेटी! मेरी तो अब उंगलियां नहीं चलतीं। आंखों के आगे अंधेरा-सा हो रहा है। नींद के मारे बुरा हाल है। मेरी समझ में तो अब तू भी सो जा, सवेरे हम दोनों मिलकर जल्दी बना डालेंगी।"

सुशीला बोली—"नहीं अम्मां! सवेरे नहीं। सवेरे और बहुत काम करने हैं। राधे के लिए कुरता सीना है, कई दिन से मैला पहने घूम रहा है। तुम सो रहो, मैं अभी इसे पूरा किए देती हूँ।"

वृद्धा ने पुत्री की इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह कुछ देर तक स्थिर-दृष्टि से सुशीला के मुख की ओर ताकती रही, तत्पश्चात् एक दीर्घ निःश्वास लेकर उठ खड़ी हुई। खड़े होकर उस ने एक ज़ोर की अंगड़ाई लेकर जकड़े हुए शरीर को सीधा किया। इस के पश्चात् वह एक चारपाई के पास पहुंची। चारपाई पर एक मैला बिछौना बिछा हुआ था और उस पर एक ओर एक आठ दस वर्ष का बालक सो रहा था। वृद्धा भी उसी चारपाई पर लेट गई और कुछ ही मिनटों में सो गई। माता के सो जाने पर सुशीला उठी और उस ने भी एक ज़ोर की अंगड़ाई ली, थोड़ा पानी पिया और आंखों पर पानी के दो-चार छींटे मारे। फिर वह अपने स्थान पर बैठ

कर काम करने लगी। पंद्रह मिनट तक तो उस के काम करने की चाल कुछ तेज़ रही, मगर उस के बाद फिर उंगलियों ने जवाब देना शुरू किया और आंखें नींद को आत्मसमर्पण कर देने के लिए हठ करने लगीं। परन्तु सुशीला यह कह कर कि थोड़ा-सा काम और है उन से ज़बरदस्ती काम लेने की चेष्टा करती रही। बीच में उस ने एक बार फिर पानी पिया और आंखें धोईं। अंत को डेढ़ बजे के निकट सुशीला ने अन्तिम टांका लगाया; परन्तु उस में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उठकर अपनी चारपाई पर जाती। काम समाप्त होते ही उस ने सुई हाथ से छोड़ दी, दीपक को मुंह की फूंक मारकर बुझा दिया और फिर उसी चटाई पर सो गई।

(२)

इतनी रात गए सोने पर भी दोनों स्त्रियों के चिन्ता-पूर्ण हृदयों ने उन्हें पूरी नींद न लेने दी। सवेरे छः बजे ही दोनों की नींद टूट गई। यद्यपि थका हुआ शरीर अभी और आराम करना चाहता था, आंखों पर भी नींद का पूरा अधिकार बना हुआ था, किन्तु तो भी, वे दोनों उठ बैठीं।

नित्य-कर्मों से छुट्टी पाकर, आठ बजने के कुछ पहले, सुशीला ने अपनी माता से कहा—"अम्मां! अब तुम भैया को साथ ले जाकर लहंगा दे आओ; फिर यह स्कूल चला जाएगा।"

यह कहकर सुशीला ने लहंगे को एक कपड़े मे लपेट दिया।

वृद्धा लहंगा लेकर राधे के साथ बाजार में एक दुकान पर पहुंची। यह दुकान एक बहुत बड़ी दुकान थी और इस में सलमेसितारे तथा चिकन के काम के कपड़े और टोपियां इत्यादि बेची जाया करती थीं।

दुकान पर पहुंचकर वृद्धा ने दुकानदार को लहंगा दिया।

दुकानदार ने लहंगा खोला और उसे उलट पलट कर देखने के बाद बोला—"कुछ अधिक अच्छा तो बना नहीं। कुछ सलमा बचा है?"

वृद्धा—"हां, कुछ थोड़ा-सा बचा है।"

दुकानदार—"अच्छा उसे अभी अपने पास रहने दो, एक टोपी बनवानी है, उसी में लगा देना। हां, तो यह काम तुम ने कुछ जी लगाकर नहीं किया।"

वृद्धा—'बेटा! पंद्रह दिन से हम दोनों इसी में लगी रहीं, तब जाकर यह आज बन पाया। अच्छा नहीं बना तो बुरा भी नहीं है। कोई बेल-बूटा टेढ़ा-तिरछा नहीं हुआ; जैसा तुम ने कहा था, वैसा ही बनाया है।"

दुकान०—"टेढ़ा-तिरछा न सही, फिर भी अधिक अच्छा नहीं बना। खैर, इस की बनवाई दो-तीन दिन में ले जाना। एक टोपी भी लेती जाओ, उसे भी जल्दी ही बनाकर दे जाना।"

वृद्धा—"लाओ, टोपी दे दो, और इस की बनवाई भी

अभी दे दो तो बड़ा काम करो। घर में खाने-पीने को नहीं रहा; राधे की फीस भी देनी है।"

दुकानदार कुछ क्षण तक सोचता रहा। तत्पश्चात् बोला "अच्छा तो इस की बनवाई सात रुपए हुए क्यों न?"

वृद्धा नम्रतापूर्वक बोली—"अब तुम्हीं समझ लो, बेटा! मैं क्या कहूं। पंद्रह दिन काम किया है।"

दुकानदार—" सात रुपये भी तो थोड़े नहीं हैं। तुम्हें तो हम एक आध रुपया अधिक ही दे दिया करते हैं।"

वृद्धा—"बेटा! सात रुपये में तो पेट नहीं भरता, कुछ और दो। हम बड़े ग़रीब हैं। घर में कोई मर्द-मानस नहीं। जो आज इस लड़के का बाप या जीजा होता तो हमें ये दिन काहे को देखने पड़ते।"

यह कह कर वृद्धा आंखों में आंसू भर लाई।

दुकानदार बोला—" अच्छा आठ रुपए देंगे-बस अब तो प्रसन्न हो?"

वृद्धा—" बेटा! भगवान् तुम्हें दूध-पूत से सुखी रक्खे। तुम्हारी बदौलत हमारा भी पेट भरता है।"

दुकानदार ने वृद्धा को आठ रुपए दिए। टोपी का पल्ला भी दे दिया, और उस के सम्बन्ध में आवश्यक बातें समझा दीं।

वृद्धा के चले जाने पर दूकानदार अपने मुनीम से बोला—" यह लंहगा तैयार हो गया है। इसे आज ही रायसाहब के

यहां भिजवा देना। साथ ही इस की बनवाई का परचा भी भेज देना।"

मुनीम ने पूछा—"कितने का परचा बनाऊं?"

दुकानदार कुछ देर सोचकर बोला—"१४०) रु० का परचा बना देना। १००) रु० माल के, और चालीस रुपए बनवाई के।"

(३)

राय ज्योतिस्वरूप के ज्येष्ठ पुत्र कृष्णस्वरूप जी एक अंगरेज़ी का समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। पास ही उन के दो तीन मित्र बैठे आपस में बातें कर रहे थे। सहसा कृष्णस्वरूप ने पत्र मेज़ पर रख दिया, और बोले—"आज कल बड़ी हड़तालें हो रही हैं यह बात क्या है? आख़िर ये मज़दूर चाहते क्या हैं? क्या इन लोगों की इच्छा यह है कि पूंजी लगाने वालों के बराबर मुनाफ़े में इन्हें भी हिस्सा मिला करे?"

एक मित्र बोला—"बराबर न सही, कम-से-कम इतना तो अवश्य मिले जिस में वे आराम से रह सकें।"

कृष्णस्वरूप मुंह बनाकर बोले—"यह कैसे हो सकता है? जो रुपये लगावेगा, दिमाग़ खर्च करेगा, वह अपनी कमाई में से देकर हानि क्यों उठाने लगा?"

दूसरा—खाली रुपए लगाने ही से उस का इतना अधिकार नहीं हो सकता कि वह मज़दूरों से कस कर काम ले

और मज़दूरी इतनी दे, जैसे कुत्ते को रोटी का टुकड़ा फेंक दिया जाता है। मान लीजिए एक मज़दूर से किसी पूंजी वाले को पांच रुपए लाभ होता है और वह उन पांच रुपयों में से मज़दूर को केवल दो आने अथवा चार आने देता हैं, बाक़ी आप डकार जाता है, तो यह अन्याय नहीं तो और क्या है ? ख़ास कर ऐसी दशा में, जब उन दो-चार आनों से मज़दूर का पेट नहीं भरता ?"

कृष्ण०—"अगर दो-चार आनों से उन का पेट नहीं भरता तो वह ऐसी जगह मज़दूरी क्यों करें? वहां क्यों न करें जहां अधिक मिले ?"

तीसरा—"आप भी बच्चों की सी बातें करते हैं। अधिक देता कौन है ? सब का यही हाल हैं । यदि एक-आध ऐसे हुए भी, जो सन्तोष-जनक मज़दूरी देते हैं, तो उन से कितने मज़दूरों का काम चल सकता है ? एक-दो पूंजी वाले तो संसार भर के मज़दूरों को रख नहीं सकते ?"

कृष्ण०—"हां हो सकता है। परन्तु मेरी समझ में तो मज़दूर मज़दूर ही है। उसे मज़दूरी ही दी जायगी। इस के सिवा इतना अन्धेर तो शायद ही कहीं होता हो कि जिस मज़दूर से पांच रुपयों का लाभ हो, उसे केवल दो-चार आने ही दिए जाएं।"

तीसरा—"शायद ही कहीं नहीं, सब जगह होता है। यदि ऐसा न हो, तो यह कब सम्भव हो सकता है कि बड़ी

बड़ी कम्पनियों की पूंजी तो बढ़ती ही चली जाय और बेचारे मज़दूर वही मोची के मोची बने रहें।"

कृष्ण०—"रुपए लगाने वाले पूंजी बढ़ाने के लिए ही लागत लगाते हैं और मज़दूर केवल अपना पेट भरने के लिए मज़दूरी करते हैं।"

चौथा—" यदि पेट ही भर जाया करे तो भी ठीक है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि उन का पेट भी नहीं भरता।"

दूसरा—" पेट भरने के कहीं यह अर्थ न लगा लीजिएगा कि चने चबा कर भी पेट भर सकता है। अपने लिए आप पेट भरने का यह अर्थ लगाते हैं कि अनेक प्रकार के घी से चुहचुहाते हुए पकवान हों, खट्टे-मीठे पदार्थ हों, रबड़ी हो, मलाई हो, दूध हो, और उन के लिए पेट भरने का यह अर्थ कि चने चबाकर भी पेट भर सकते हैं!"

कृष्ण०—(कुछ सोचकर) " नहीं, मैं इतना अन्याय तो पसन्द नहीं कर सकता। मगर साथ ही मैं यह भी ठीक नहीं समझता कि मज़दूरों का साहस बढ़ाया जाय कि वे पूंजी वालों के मुनाफ़े पर दांत लगावें।"

तीसरा—" खैर, यदि अभी आप नहीं समझते तो क्रमशः समझने लगिएगा।"

कृष्ण०—"मेरी समझ में तो इन हड़तालों में मज़दूरों को सफलता नहीं मिलेगी। भला पूंजी वाले उन की शर्तें क्यों स्वीकार करेंगे?"

चौथा—"स्वीकार न करेंगे, तो जायंगे कहां? जब उन्हें मज़दूर ही न मिलेंगे, तो झख मार कर स्वीकार करेंगे। परन्तु इस में बात इतनी है कि मज़दूर भी अपनी बात पर डटें रहें।"

कृष्णस्वरूप कुछ कहने ही को थे कि एक नौकर कमरे के अंदर आया और कृष्णस्वरूप से बोला—"सरकार! गुलाबचन्द कम्पनी का आदमी आया है।"

कृष्ण०—"यहां बुला लाओ।"

कुछ देर बाद नौकर एक चपरासी को साथ लेकर आया।

चपरासी ने सलाम कर के कृष्णस्वरूप के सामने एक काग़ज़ में लिपटा हुआ पैकेट-सा रख दिया और साथ ही एक लिफ़ाफ़ा भी पैकेट के पास रख दिया।

कृष्णस्वरूप ने पैकेट खोला। पैकेट के अन्दर से एक नीली मख़मल का लहंगा निकला; जिस पर नीचे से ऊपर तक ज़री का काम बना हुआ था।

कृष्णस्वरूप कुछ देर तक उसे उलट-पलटकर देखते रहे। फिर वह मित्रों से बोले—"देखिए, कितना अच्छा काम है!"

मित्रों ने भी देखकर काम की प्रशंसा की। इस के बाद कृष्णस्वरूप ने लिफ़ाफ़ा फाड़कर अन्दर से बिल निकाला। बिल पढ़कर चपरासी से बोले—"अच्छा! रुपए शाम को या कल सवेरे भिजवा दिए जाएंगे।"

"बहुत अच्छा" कह कर और सलाम कर के चपरासी कमरे से चला गया।

चपरासी के चले जाने पर कृष्णस्वरूप के मित्रों ने उन से पूछा—"यह कितने दामों का है?"

कृष्ण०—"अब यह समझ लीजिए कि सौ रुपए की तो मखमल है दस गज़, सौ रुपए की ज़री लगी है और चालीस रुपए बनवाई के।"

दूसरा—"चालीस रुपए बनवाई! चालीस रुपए तो कुछ अधिक नहीं हैं।"

कृष्ण०—"चालीस रुपयों में केवल ज़री का काम बना है। लहंगे की सिलाई अलग है।"

तीसरा—"तब भी कुछ अधिक नहीं, काम को देखते उचित ही है।"

कृष्ण०—"हम से अधिक ले भी नहीं सकते। आर्डर देकर बनवाया है। मखमल हमारी, ज़री हमारी, लहंगे की सिलाई हमारी, खाली उन्हों ने बनवा दिया है।"

चौथा—'बना-बनाया लेते तो कुछ और अधिक दाम लग जाते।"

कृष्ण०—"निस्संदेह अधिक लगते; क्योंकि वे अपना मुनाफ़ा भी तो लेते। केवल ज़री के काम की बनवाई में अधिक मुनाफ़े की गुंजायश नहीं है। दो चार रुपए बच भी गए तो क्या।"

पहला—" इन के यहां कारीगर नौकर होंगे ?"

कृष्ण०—" और नहीं तो क्या ? नौकर न हों तो काम कैसे चले ? अच्छा बड़ा फ़र्म है, मामूली फ़र्म नहीं है।

उपर्युक्त घटना के चार पांच दिन बाद कृष्णस्वरूप के एक मित्र, जिन्हें हमने ऊपर तीसरा नम्बर दिया है, 'गुलाबचन्द एंड कम्पनी' के यहां पहुंचे। इन का नाम व्रजविहारी था। इन्हें भी कुछ ज़री का काम बनवाना था। इसीलिए कृष्णस्वरूप से गुलाबचन्द-कम्पनी के सम्बन्ध में यह मालूम कर के कि यह कृष्णस्वरूप का काम उचित मूल्य पर कर देती है। उन्होंने भी उक्त कंपनी से कुछ काम बनवाने का निश्चय किया।

दुकान पर पहुंचकर व्रजबिहारी ने पहले उन के यहां का भिन्न-भिन्न प्रकार का, काम देखा। इस के बाद उन्हें जो कुछ बनवाना था, उस के सम्बन्ध में बात-चीत की। अभी वह बात-चीत कर ही रहे थे कि सुशीला की माता राधे को साथ लिए आ पहुंची, और सीधे गुलाबचन्द के पास आकर उस ने उन के हाथ में एक टोपी दे दी। गुलाबचन्द ने शीघ्रता पूर्वक टोपी को देखकर वृद्धा से कहा—" अच्छा ! अब इस समय तो तुम जाओ, कल किसी समय मिलना।"

वृद्धा ने विनीत भाव से कहा--" इस की बनवाई दे दो तो अच्छा हो।"

गुलाबचंद कुछ अप्रसन्न होकर बोले—"बनवाई मिल

जाएगी। अभी मुझे छुट्टी नहीं है। अभी तीन-चार ही दिन तो हुए रुपए ले गई थी।"

वृद्धा—"हां बेटा! लहंगे की बनवाई के आठ रुपए जो तुम ने दिए थे, वे सब खर्च हो गए। कुछ का खाने-पीने को आ गया, कुछ फुटकर खर्च हो गए।"

गुलाबचंद क्रुद्ध होकर बोले—"तुम से हिसाब कौन पूछता है? निरर्थक बक-बक लगाए हो। जाओ अपना काम देखो। जब छुट्टी होगी तब तुम्हारा हिसाब दे देंगे। चलो, हटो।"

वृद्धा अपना-सा मुंह लेकर धीरे धीरे वहां से चल दी।

गुलाबचंद ब्रजविहारी से बोला—"हां! तो आप आर्डर दे जाइए, आपका काम बन जाएगा। यह विश्वास रखिए कि दाम उचित लिए जाएंगे और काम समय पर दिया जाएगा।"

परन्तु ब्रजविहारी किसी और ही धुन में थे। उन्होंने पूछा—"यह बुढ़िया कौन है?"

गुलाबचंद-"हमारे यहां का कुछ काम बनाती है। साहब! कारीगरों के मारे नाक में दम रहता है। एक-एक के दो-दो लेते हैं, फिर भी हर घड़ी छाती पर सवार होकर 'लाओ रुपया, लाओ रुपया' की धुन लगाते हैं। इन के ऊपर हमारा कुछ-न-कुछ पेशगी ही बना रहता है। पेशगी न दें तो काम न करें। क्या करें, लाचार होकर देना ही पड़ता है।"

व्रजविहारी कुछ देर सोचकर बोले—"अच्छा मैं फिर किसी समय आऊंगा।"

यह कह कर वह शीघ्रता पूर्वक दुकान से बाहर आए और इधर उधर देखने लगे। थोड़ी दूर पर सुशीला की माता राधे को साथ लिए धीरे-धीरे चली जा रही थी। व्रजविहारी लपक कर उस के पास पहुंचे। पास जाकर उन्होंने वृद्धा से कहा—"क्यों माई जी! तुम कहां रहती हो?"

वृद्धा ने पहले कुछ देर तक व्रजविहारी को नीचे से ऊपर तक देखा, फिर बोली—"यहीं चावल वाली गली में रहती हूं।"

व्रज०—"तुम ज़री का काम बनाती हो?"

वृद्धा—"हां बेटा! बनाती तो हूं। क्या करें, यह पेट सब कुछ कराता है। घर में कोई कमाने वाला नहीं है, इसी से पेट पालती हूं।"

व्रज०—"तुम्हारे और कोई नहीं है?"

वृद्धा—"एक विधवा लड़की है, और यह लड़का है। और कोई नहीं है।"

व्रज०—"मुझे भी कुछ काम बनवाना है। बना दोगी?"

वृद्धा—"हां! बना क्यों न दूंगी? हमारा तो पेट इसी से भरता है।"

व्रज०—"पर मुझे अच्छा काम बनवाना है, ऐसा-वैसा काम नहीं।"

वृद्धा—"अच्छा मैं बना दूंगी। अभी तीन-चार दिन

हुए, गुलाबचन्द को एक नीली मखमल के लंहगे पर ज़री का काम बनाकर दिया है। उसे तुम देखते तो जान जाते कि हम कैसा काम बनाती हैं।"

व्रजविहारी कुछ चौंक कर बोले—" नीली मख़मल का लंहगा ?"

वृद्धा—" हां नीली मख़मल का ! उस पर बड़े-बड़े बूटे और बेल बनाई गई है।"

व्रज०—" कितने दिन हुए ?"

वृद्धा—"बनाकर दिए हुए अभी तीन ही चार दिन हुए हैं।

व्रज०—" रायसाहब वाला तो नहीं ?"

वृद्धा—" अब यह तो जानती नहीं। गुलाबचन्द ने बनवाया था, चाहे जिस का हो।"

व्रज०—" उस की बनवाई तुम्हें क्या मिली थी ?"

वृद्धा—" आठ रुपए।"

व्रजविहारी कुछ आश्चर्यान्वित होकर बोले—" आठ रुपए ! तो वह न होगा, और कोई होगा। उस की बनवाई तो चालीस रुपए थे।"

व्रजविहारी ने अपने काम के सम्बन्ध में समझा कर कहा–" इस की बनवाई क्या लोगी ?"

वृद्धा—" जो गुलाबचन्द देते हैं वही तुम भी दे देना।"

व्रज०—" वह क्या देते हैं ?"

वृद्धा—" इतने काम के पांच रुपए देते हैं।"

व्रजविहारी अत्यन्त विस्मित होकर बोले–"पांच रुपए !"

वृद्धा—"हां, पांच रुपए। मैं तुम से झूठ न बोलूंगी। पांच रुपए देते हैं, कम नहीं देते।"

व्रज०—"पर वह तो इस की बनवाई........"

इतना कह कर व्रजविहारी कुछ झिझके, परन्तु वैसे ही बात का रुख बदल कर बोले—"अच्छा तुम अपना घर दिखा दो, मैं तुम्हें सब सामान भिजवा दूंगा।"

सुशीला की माता ने व्रजविहारी का प्रस्ताव स्वीकार किया और उन को साथ लेकर अपने घर पहुंची। घर के द्वार पर पहुंच कर बोली—"यहीं भिजवा देना।"

व्रजविहारी ने जेब से चार रुपए निकाल कर कहा—"गुलाबचन्द से जो कुछ तुम ने कहा था, उस से मुझे पता लगा कि इस समय तुम्हें रुपयों की आवश्यकता है। इसी लिए अपने काम की बनवाई में से चार रुपए तुम्हें पेशगी देता हूं।"

वृद्धा रुपए लेते हुए कुछ झिझकी, परन्तु व्रजविहारी ज़बरदस्ती उस के हाथ में रुपए रखकर चल खड़े हुए।

(५)

सुशीला की माता के घर से लौट कर व्रजविहारी सीधे कृष्णस्वरूप के पास पहुंचे और बोले—"कुछ देर के लिए आप मुझे लंहगा दे दीजिए जो परसों बनकर आया है।"

कृष्णस्वरूप मुसकरा कर बोले—"क्यों ? वैसा बनवाने की इच्छा है क्या ?"

व्रज०—"हां, कुछ ऐसी ही इच्छा है।"

कृष्णस्वरूप ने लंहगा मंगवा दिया।

व्रजविहारी लंहगा तथा अपने काम के लिए आवश्यक सामान लेकर फिर सुशीला के घर पहुंचे। जाते ही पहले उन्होंने लंहगा दिखला कर पूछा—"यही लंहगा तुम्हारा बनाया हुआ है ?"

वृद्धा तथा सुशीला एक-स्वर से बोलीं—"हां ! यही लंहगा है।" यह सुन कर व्रजविहारी के हृदय में चोट लगी। वह सोचने लगे—केवल इस के बनवाने की दलाली में गुलाबचन्द बत्तीस रुपए खा गया और जिन्होंने खून-पसीना एक कर के बनाया, उन्हें केवल आठ ही रुपए दिए।"

व्रजविहारी ने पूछा—"यह लंहगा तुम ने कितने दिनों में बनाया था ?"

वृद्धा ने कहा—"पन्द्रह दिन तक हम दोनों मां-बेटी लगी रही थीं, तब जाकर कहीं यह बन पाया था। रात के बारह-बारह, एक-एक बजे तक काम किया था।"

व्रजविहारी के अन्तस्तल से एक आह निकली। उन्होंने सोचा—यदि इन को इन के परिश्रम का आधा लाभ भी मिल जाया करे तो इन की दरिद्रता में बहुत कुछ कमी हो सकती है।

व्रजविहारी ने पूछा—" जानती हो, इस की बनवाई गुलाबचन्द ने क्या ली है ?"

वृद्धा ने कहा—" हम क्या जानें बेटा ?"

व्रज०—यह एक मेरे मिलने वाले के घर का लंहगा है। गुलाबचन्द ने उन से इस की बनवाई चालीस रुपए लिए हैं।"

सुशीला और उस की माता दोनों अवाक् होकर व्रजविहारी का मुंह ताकने लगीं। कुछ देर तक दोनों चुप रहीं। फिर सुशीला एक लम्बी सांस लेकर बोली—" चाहे जो ले, हम से क्या ? हमें जो देता है, हम तो उतना ही जानती हैं। इतना देता है, ग़नीमत है।"

व्रज०—" तो तुम उस के लिए काम क्यों करती हो ? खुद इधर-उधर से काम क्यों नहीं ले आतीं ?"

वृद्धा—" हमने पहले यही कर कर के देखा था, पर किसी ने हमें नहीं दिया। लोग कहने लगे—तुम्हें हम क्या जानें ? हमारा माल लेकर चल दो तो हम क्या करें ? हम ने यह भी कहा कि तुम्हारे घर बैठ कर बना दिया करें, पर इस पर कोई राज़ी नहीं हुआ।"

व्रज०—" गुलाबचन्द तुम्हें पेशगी भी देता रहता है ?"

वृद्धा—" कभी जब बहुत हाथ-पैर जोड़ती हूं तो दो-चार रुपए दे देता है और कभी नहीं भी देता।"

व्रज०—" अच्छा ! मैं अपने काम की बनवाई तुम्हें पन्द्रह रुपए दूंगा। चार रुपए दे चुका हूं, पांच रुपए यह और लो,

बाक़ी छः रुपए काम बन जाने पर दूंगा। अब एक काम यह करना कि गुलाबचन्द का काम इतनी कम मज़दूरी पर कभी मत करना। कम से-कम इस का ढाई गुना दे, तब करना।"

पांच रुपए के काम के पंद्रह रुपए—और उस में से नौ रुपए पेशगी मिलते देखकर मां बेटी के नेत्रों में कृतज्ञता के आंसू भर आए।

वृद्धा बोली—"यह तो बेटा! तुम ने जो कहा, सो ठीक है, पर गुलाबचंद ऐसा क्यों करेगा?"

व्रज०—"न करे तो तुम भी उसका काम न करना।"

वृद्धा—"काम न करेंगे तो खाएंगे क्या?

व्रजविहारी यह सुनकर चिन्ता में पड़ गए। कुछ देर तक सोचकर बोले—"इस के लिए तुम मत घबराना। मैं तुम्हें काम दिया करूंगा।"

यह कहकर व्रजविहारी उन से विदा हुए और सीधे कृष्णस्वरूप के पास पहुंचे। उन से सारा कच्चा चिट्ठा कह कर बोले—'देख ली आप ने गुलाबचंद की भलमनसी? आप उसे भला आदमी बताते थे?'

कृष्णस्वरूप भी सुनकर चकित रह गए। बोले—"मुझे स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि यह इस प्रकार ग़रीबों के गले काटता होगा।"

व्रज—"यह इतना मोटा कैसे हुआ? इसी तरह गरीबों के गले काट-काटकर! इसी की बदौलत ये लोग इतने बड़े

धन्नासेठ बने बैठे हैं, और गाड़ियों पर चढ़े-चढ़े घूमते हैं। यह तो केवल एक की बात है—सभी ऐसा करते हैं।"

कृष्ण—"क्यों जी! यह अपने सब कारीगरों के गले ऐसे ही काटता होगा?"

व्रज०—"और नहीं तो क्या? यह तो केवल इन्हीं स्त्रियों का एक उदाहरण है। उस के पास तो बीस पचीस कारीगर होंगे। उस रोज़ आप इन पूंजीवालों का पक्ष ले रहे थे। देख ली इन की करतूत? यह तो एक छोटा-सा उदाहरण आप को मिला है। ख़ैर, यह तो जो है, सो है, अब मैंने इस गुलाबचंद के होश ठिकाने लाने का निश्चय किया है। आपको इस काम में मेरी सहायता करनी पड़ेगी।"

कृष्ण०—"कहो।"

व्रज०—"मेरा विचार एक दुकान खोलने का है। उस में यह नियम रक्खा जाए कि जो कारीगर जितने का काम करे उस का आधा हिस्सा कारीगर को दिया जाए, और आधा फ़र्म ले। इस के सिवा साल-भर में जो लाभ हो, उस में से भी उन को कुछ दिया जाए।"

कृष्ण—"स्कीम तो अच्छी है।"

व्रज०—"अच्छी हो या बुरी, मैं इसे अवश्य करूंगा और इस में आप को मेरी सहायता करनी पड़ेगी।"

कृष्ण०—"मैं हाज़िर हूं। जैसा कहोगे, वैसा करूंगा।

इस घटना को सुनकर मुझे भी इन पूंजीवालों से घृणा हो गई है।"

(६)

उपर्युक्त घटना के एक महीने बाद "कृष्ण ऐंड कम्पनी एंब्रायडर्स" नाम का एक बड़ा फर्म खुल गया। इस फर्म ने एक नोटिस निकाला, जिस में कारीगरों के लिए काम करने की शर्तें छपी हुई थीं। वे शर्तें इतनी सुविधा-जनक थीं कि कृष्ण ऐंड कम्पनी को धड़ाधड़ कारीगर मिलने लगे। क्रमशः इस का पता गुलाबचंद ऐंड कम्पनी के कारीगरों को लगा। गुलाबचन्द से उन्हें जो मज़दूरी मिलती थी, उस से कृष्ण ऐंड कम्पनी की मज़दूरी का मिलान किया, तो तिगने का अंतर पाया। इस हिसाब से गुलाबचंद के यहां जो एक रुपया मिलता था, तो कृष्ण ऐंड कम्पनी के यहां तीन रुपए मिलने की बात थी। कुछ लोग ऐसे थे जो गुलाबचंद का पेशगी रुपया खाए बैठे थे। अतएव जब तक वे, वे रुपए अदा न कर देते, तब तक गुलाबचंद का काम करना छोड़ नहीं सकते थे। ऐसों में भी बहुतों ने ऋण लेकर गुलाबचंद का रुपया अदा कर दिया। जिन्हें ऋण नहीं मिला, उन्होंने अपनी कठिनाई कृष्ण ऐंड कम्पनी के सामने रक्खी। कृष्ण ऐंड कम्पनी ने तुरन्त उन का ऋण चुकाकर उनको गुलाब-चंद के पंजे से छुड़ा लिया। इस का परिणाम यह हुआ कि गुलाबचंद के सब कारीगर कृष्ण ऐंड कम्पनी के हाथ में आ

गए। गुलाबचंद ने बड़ी चेष्टा की, कारीगरों को कृष्ण ऐंड कम्पनी के यहां की सारी सुविधाएं देने का प्रलोभन दिया, परन्तु लोगों को उस से इतनी घृणा हो गई थी कि उन्होंने किसी तरह उस का काम करना स्वीकार नहीं किया। इस का परिणाम यह हुआ कि गुलाबचंद का काम फ़ेल हो गया। इधर कृष्ण ऐंड कम्पनी का काम दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करने लगा। उस के कारीगर चारों ओर उस का गुण-गान करते फिरते थे। इस का प्रभाव जनता पर भी अच्छा पड़ा। जनता को कृष्ण ऐंड कम्पनी पर अटल विश्वास हो गया।

(७)

एक वर्ष के बाद की बात है—

"बेटी सुशीला! अब तो राधे के ब्याह की तैयारी करनी चाहिए।"

एक छोटे-से, परंतु साफ़-सुथरे मकान की एक दालान में, एक मोटे गद्दे पर, बैठी हुई सुशीला कारचोबी का काम कर रही है। पास ही एक चारपाई पर सुशीला की माता माला लिए बैठी है। माला सटकाते-सटकाते एकाएक वृद्धा ने सुशीला से कहा—"बेटी सुशीला! अब तो राधे के ब्याह की तैयारी करनी चाहिए।"

सुशीला ने मुसकिरा कर कहा—"अभी से? अभी तो यह बारह ही बरस का है।"

वृद्धा—"और क्या बुढ़ापे में ब्याह होगा ? मेरी यह अभिलाख (अभिलाषा) है कि मैं राधे की बहू का मुंह देख कर मरूं । मेरे इतने भाग कहां जो नाती-पोतों का मुंह देखूं ?"

सुशीला हंस कर बोली—'क्यों, भाग होने को क्या हुआ?'

वृद्धा—"ना बेटी ! मेरे ऐसे भाग नहीं।"

ठीक उसी समय राधे पुस्तकें बगल में दाबे स्कूल से आ गया, और किताबें एक ओर रखकर बोला--"जीजी ! बड़ी भूख लगी है, खाने को दो।"

सुशीला ने काम छोड़ दिया और राधे को भोजन दिया।

राधे भोजन में जुटकर बोला—"जीजी ! आज बिरजू बाबू (ब्रजबिहारी) कहते थे कि जब तू बड़ा हो जाएगा तो तुझे हम अपनी दुकान पर रख लेंगे।"

सुशीला—"फिर क्या, जल्दी-जल्दी पढ़ ले।"

राधे—"जीजी ! मैं यह दर्जा पास कर लूंगा तो फिर नई नई किताबें लेनी पड़ेंगी।"

सुशीला—"तो फिर क्या हुआ, ले देंगे। अब हमें क्या कमी है ? बिरजू बाबू की दूकान बनी रहे और हमारे हाथ पैर चलते रहें, अब हमें किसी बात की कमी नहीं है।"

यह कहकर सुशीला फिर अपने स्थान पर आकर काम करने लगी।

नमक-हलाल नौकर

(१)

शाम के पांच बज चुके हैं। कींस-पार्क में खासी चहल-पहल है। लोग घास तथा वेंचों पर बैठे हुए शीतल, मन्द समीर का आनन्द ले रहे हैं। ऐसे ही समय में एक विक्टोरिया-गाड़ी, जिस में एक बलिष्ठ सुन्दर घोड़ा जुता हुआ था। पार्क के बड़े लान के पास आकर ठहरी। उस में से दो नव युवक उतरे और पास ही पड़ी हुई एक खाली बेंच पर बैठ गए।

बेंच पर बैठ कर वे आपस में बातें करने लगे। कुछ समय व्यतीत होने पर एक मनुष्य जिस की उम्र ५० वर्ष के लगभग होगी, उन के पास आया। उस मनुष्य की मूछें और सिर के बाल श्वेत हो चले थे। यद्यपि उस का शरीर दुबला था, तथापि ध्यान-पूर्वक देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि अपने यौवन-काल में वह व्यक्ति खूब बलवान् होगा, क्योंकि उसी यौवन-काल के बल का बचा खुचा अंश

अब भी उस के शरीर में विद्यमान था। उस मनुष्य ने पास आकर केवल इतना ही कहा—'भगवान् भला करें!' और चुपचाप खड़ा हो गया।

दोनों नवयुवकों ने एक बार उस की ओर देखा, और फिर बातें करने में लीन हो गए।

वह वृद्ध उसी प्रकार मौन खड़ा रहा। थोड़ी देर बाद नवयुवकों का ध्यान उस की ओर पुनः आकृष्ट हुआ। उन में से एक ने उस से पूछा–'क्या चाहते हो?' वृद्ध बोला–'ईश्वर के नाम पर जो कुछ बाबू साहबों की मर्ज़ी हो।'

नवयुवक कुछ क्षण तक उस की ओर, स्थिर दृष्टि से, देखता रहा। तत्पश्चात् बोला—'आगे देखो।'

वृद्ध—'भगवान् भला करें' कह कर आगे चल दिया। उस के कुछ दूर जाने पर दूसरा नवयुवक बोला—'यह मनुष्य एक ही बार नाहीं करने पर चल दिया; पेशेवर भिक्षुकों का तो यह नियम नहीं है, वे तो कुछ लिए बिना अथवा दो-चार खरी-खोटी सुने बिना पिंड ही नहीं छोड़ते।'

पहला नवयुवक बोला—यह बात तो तुम ने पते की कही। इसे बुला कर पूछना तो चाहिए कि यह कौन है।'

दूसरा—'मेरी भी यही राय है।'

यह कह कर उस ने पुकारा—'ओ बुड्ढे!'

वृद्ध ने घूम कर देखा। नवयुवक ने हाथ के इशारे से उसे बुलाया।

वृद्ध ठिठुक कर खड़ा हो गया और उन की ओर देखने लगा। नवयुवक ने फिर हाथ के इशारे से उसे बुलाया। वृद्ध दम-भर कुछ सोचता रहा। तत्पश्चात् धीरे-धीरे उन के पास आया।

उस के पास आने पर दूसरे नवयुवक ने पूछा—'तुम कौन जाति हो?'

वृद्ध ने सिर झुका लिया और दीर्घ, परन्तु दबी हुई, निःश्वास लेकर बोला—'ठाकुर।'

नवयुवक—'कौन ठाकुर?'

वृद्ध—'बैस।'

पहला नवयुवक—'ठाकुर तो कुलीन हो। फिर भी भीख मांगते हो।'

वृद्ध—'पेट के लिए सब कुछ करना पड़ता है।'

दूसरा नवयुवक बोला—'पेट के लिए मज़दूरी कर सकते हो, नौकरी कर सकते हो?"

वृद्ध—'नौकरी लगती नहीं। मज़दूरी होती नहीं।'

पहला नवयुवक—'क्यों मज़दूरी क्यों नहीं होती?'

वृद्ध—'मजदूरी में परिश्रम बहुत पड़ता है। इतने परिश्रम का अभ्यास नहीं।'

दूसरा नवयुवक—'भीख मांगने में परिश्रम बिलकुल नहीं पड़ता, क्यों न?'

वृद्ध का चेहरा लाल हो गया—पता नहीं, क्रोध के मारे अथवा लज्जा के।

पहले नवयुवक ने कहा—'भीख मांगना तो महा अधम काम है।'

वृद्ध—'अधम तो है।'

दूसरा--'इस के अतिरिक्त भीख मांगने में अधिकतर अपमान होता है।'

वृद्ध—'मैं अपमान का काम नहीं करता। एक बार सवाल करता हूं, जिस ने दे दिया, ले लिया; नहीं तो अपना रास्ता देखता हूं।'

पहला—'चाहे जो हो, भीख मांगना बुरा ही है।'

वृद्ध ने सिर झुका लिया; कुछ उत्तर न दिया।

दूसरा—'खैर! जो कुछ हो; तुम नेक मालूम पड़ते हो, इसलिए यह लो।'

यह कहकर युवक ने वृद्ध के हाथ में एक रुपया रख दिया। वृद्ध ने रुपया लेकर कहा—'आप ने जब इतनी दया दिखाई, तो इस से अच्छा यह था कि कहीं नौकरी लगवा देते। मुझे भीख मांगने में जितना दुःख होता है, वह भगवान् ही जानता है।'

पहला-'तुम अकेले हो?'

वृद्ध—'जी नहीं, स्त्री है और एक कन्या।'

पहला—'इस समय हमें किसी आदमी की आवश्यकता

तो है नहीं, तुम चेष्टा करके देखो। यदि तुम्हें कहीं नौकरी न मिले तो फिर हमारे पास आना।'

वृद्ध—'बहुत अच्छा, पर आप मिलेंगे कहां?'

पहला—'हम लोग तो नित्य ही यहां आते हैं—या तुम हमारे घर पर आ जाना।'

यह कहकर युवक ने अपने मकान का पता बता दिया। वृद्ध 'भगवान आप का भला करे' कहकर चल दिया। वृद्ध के चले जाने के पश्चात् दूसरे युवक ने कहा—'तुम्हें तो एक आदमी की आवश्यकता थी।'

पहला—'थी क्या, अब भी है।'

दूसरा—'तो इसे रख क्यों नहीं लिया?'

पहला—'बात यह है कि मैं देखना चाहता हूं, इसे वास्तव में नौकरी करनी है या नहीं। यदि करनी होगी, तो अवश्य आवेगा और नहीं करनी है, तो नहीं आवेगा।'

दूसरा—'यह भी ठीक है।'

(२)

बाबू शंकरसहाय जाति के कायस्थ और शहर के अच्छे वकीलों में हैं। उन के दो पुत्र हैं। एक की उमर १३-१४ वर्ष के लगभग है, आठवीं क्लास में पढ़ता है, नाम देवीसहाय है। दूसरे यानी ज्येष्ठ पुत्र की उम्र २०-२२ वर्ष के लगभग है, फ़ोर्थ ईयर में पढ़ते हैं; नाम रघुवीर सहाय है। इन्हीं

रघुवीरसहाय ने कौंस-पार्क में उस वृद्ध भिक्षुक से कहा था कि यदि तुम्हें कहीं नौकरी न मिले, तो फिर हमारे पास आना।'

इतवार का दिन था। उस वृद्ध भिक्षुक से रघुवीरसहाय का साक्षात् हुए नव दिन व्यतीत हो चुके थे। दोपहर ढल चुकी थी। बाबू रघुवीरसहाय सोकर उठे थे और बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उसी समय उन के कहार ने आकर कहा—'बाबू जी! एक बुड्ढा आया है। आप से मिलना चाहता है।'

बाबू रघुवीरसहाय कौंस-पार्क वाली बात बिलकुल भूल गए थे। उन्हों ने पूछा 'कौन बुड्ढा?'

कहार—'यह तो मालूम नहीं।'

रघुवीर—'क्या कोई नया आदमी है?'

कहार—'हां, नया है।'

रघुवीरसहाय कुछ देर तक सोच कर बोले—'अच्छा बुलाओ।'

बुड्ढे ने सामने आ कर सलाम किया। उसे देखते ही रघुवीरसहाय बोले—'ओहो! तुम हो! मैं कहता था, कौन आदमी है। हां, तो क्या तुम्हें अभी तक कोई नौकरी नहीं मिली?'

वृद्ध—'नहीं सरकार।'

रघुवीर—'तो तुम हमारे यहां नौकरी करोगे?'

वृद्ध—'क्यों नहीं करूंगा सरकार!'

रघुवीर—'क्या तनख़्वाह लोगे ?'

वृद्ध—'तनख़ाह-वनख़ाह कुछ नहीं, मेरा और मेरे बाल-बच्चों का पेट भरना चाहिए।'

रघुवीर—'तो भी कुछ मालूम तो हो।'

वृद्ध—'मैं क्या बताऊं।'

रघुवीर—'अच्छा ख़ैर, हम तुम्हें पंद्रह रुपए महीना देंगे।'

वृद्ध—'बहुत हैं। काम सरकार ! क्या करना होगा ?'

रघुवीर—'तुम्हारे लायक़ जो काम होगा।'

वृद्ध—हां सरकार इस बात का ध्यान रखिएगा कि मैं ठाकुर हूं।'

रघुवीर-'हां ! इस बात का पूरा ध्यान रक्खा जायगा।'

तुम भी नमक-हलाली के साथ काम करना। यह याद रक्खो, लोग बहुत समझ बूझ कर नौकर रखते हैं। जब तक कोई भला आदमी सिफ़ारिश नहीं करता, तब तक नौकर नहीं रक्खा जाता। हम तुम्हें केवल तुम्हारी ही बात पर रखते हैं।'

वृद्ध—' आप की सब बातों के उत्तर में मैं केवल इतना ही कहता हूं कि मैं असली क्षत्री हूं।'

रघुवीर—'तुम रहते कहां हो ?'

वृद्ध-' सरकार मुझे आप के शहर में आए १०-१२ दिन हुए हैं। एक धर्मशाला में ठहरा हूं।

रघुवीर-' ओहो ! तुम पहले यहां कभी नहीं आए ?'

वृद्ध-' कभी नहीं।'

रघुवीरसहाय कुछ देर तक कुछ सोचते रहे। तदुपरांत बोले-'अच्छा तुम अपने बाल-बच्चों को यहाँ ले आओ, तुम्हें रहने के लिए स्थान दिया जायगा।'

वृद्ध-'बहुत अच्छा सरकार! तो मैं आज ही आ जाऊं?'

रघुवीर—'हां! आज ही आ जाओ।'

रघुवीरसहाय ने अपने कहार को बुलाकर कहा-'देखो! इन्हें वह कोठरी और दालान, जो खाली पड़ा है, दिखा दो। (वृद्ध से) जाओ, अपनी जगह देख लो।'

वृद्ध चला गया। और थोड़ी देर के पश्चात् आकर बोला-'ठीक है। मेरे लिए जगह काफ़ी है। अच्छा तो जाता हूं, शाम तक आ जाऊंगा।'

रघुवीर-'जाओ। हां! तुम्हारा नाम क्या है, नाम पूछना तो मैं भूल ही गया था।'

वृद्ध—'मेरा नाम सरकार, शेरसिंह है।'

यह कह कर वृद्ध शेरसिंह चला गया।

(३)

शेरसिंह को बाबू रघुवीरसहाय के यहां नौकर हुए तीन-मास हो चुके हैं। अब उस की दशा अच्छी है, पहले की अपेक्षा शरीर अधिक हृष्ट-पुष्ट है। एक दिन रघुवीरसहाय के मित्र शिवमोहनलाल ने उन से पूछा—'कहिए! शेरसिंह कैसा आदमी है? ठीक काम करता है?'

रघुवीरसहाय मुंह बनाकर बोले—'क्या कहूं—बड़ा आलसी आदमी है। सच बात तो यह है कि हम लोगों ने उस का चरित्र समझने में भूल की। इस व्यक्ति से परिश्रम नहीं हो सकता, और हो कैसे ? जिस आदमी को भीख मांगने का चसका लग जाता है, उस से परिश्रम का काम हो ही नहीं सकता।'

शिवमोहन—'यह बात तो ठीक है, पर उस समय तो हम लोगों ने यह अनुमान लगाया था कि यह भीख मांगने का अभ्यस्त नहीं।'

रघुवीर—'हां पर वह अनुमान ग़लत निकला।'

शिवमोहन—'आखिर उस में दोष क्या है ?'

रघुवीर—'दोष यही कि जितना काम कहा जायगा, आप उतना ही करेंगे। अपनी ओर से कोई काम नहीं करेंगे। यह भी नहीं कि प्रत्येक समय हाज़िर रहें—घर में आराम से पड़े रहते हैं। कभी इच्छा हुई तो घंटे-दो-घंटे के लिए द्वार पर आ बैठे, अन्यथा आवश्यकता होने पर घर से बुलाना पड़ता है।'

शिवमोहन—'यह तो बुरी बात है।'

रघुवीर—'अकड़ भी आप में काफ़ी है-ज़रा-सी बात में लोगों से लड़ मरते हैं। बातूनी इतने हैं कि अपने सामने किसी को बोलने नहीं देते। पिता जी तो बड़े असन्तुष्ट हैं। उन्होंने तो कई बार कहा कि निकाल बाहर करो, पर मैं ही

निभा रहा हूं। एक-आध महीने और देखता हूं। यदि राह पर आए तो खैर, नहीं तो जवाब दे दूंगा।'

शिवमोहन—'हां, फिर और क्या करोगे! अच्छा ज़रा उन हज़रत को बुलाओ तो, मैं भी तो उन की बातें सुन लूं।'

रघुवीर—'अर हटाओ भी, क्या सुनोगे।'

शिवमोहन—'तुम्हें हमारी क़सम; ज़रा बुलवाओ।'

रघुवीरसहाय ने कहार को आवाज़ दी। कहार के आने पर उस से पूछा—'शेरसिंह कहां है?'

कहार—'क्या जानूं, दरवज्जे (दरवाज़े) पर तो हैं नहीं, घर में पड़े होंगे।'

रघुवीरसहाय शिवमोहन से बोले—'देखा आप ने?' इस के पश्चात् कहार से कहा-'उन्हें बुलाओ।'

थोड़ी देर बाद शेरसिंह अकड़ते हुए आए। सिर पर एक गुलाबी साफ़ा बंधा था। एक मलमल का सफ़ेद कुर्ता पहने हुए थे। धोती भी साफ़ थी। शिवमोहन ने शेरसिंह की शान देखकर मन में कहा—'निस्सन्देह यह आदमी काम-काज क्या करता होगा?'

शिवमोहन ने पूछा—'कहो शेरसिंह! कहां थे?'

शेरसिंह बड़ी लापरवाई से बोला-'कहीं नहीं, घर में पड़ा था। थोड़ी देर हुई, भोजन किया था। भोजन करने के पश्चात् कुछ देर आराम करना अच्छा होता है। कुछ आदत सी पड़ गई है। भोजन करने के पश्चात् यदि घण्टे दो घण्टे

आराम न कर लूं तो चित्त प्रसन्न नहीं होता।'

शिवमोहन—'इस के पहले कहीं और भी नौकरी कर चुके हो?'

शेरसिंह-'सरकार नौकरी तो कई जगह की, पर किसी से पटी नहीं। तीस बरस की उम्र तक तो हम अपने गांव में खेती-बेती करते रहे। ज़मींदार से एक छोटी-सी बात पर झगड़ा हो गया। अपनी किसी से दबकर रहने की आदत नहीं; ठाकुर-बच्चे ठहरे। और दबें भी तो क्यों? लगान सब से पहले मुच्छ पर बसा देते थे, नजर-बेगार कुछ देते नहीं थे। जब तक उन के पिता जीते रहे, वह कछु नहीं बोले। बड़े भले आदमी थे, आदमी की कदर (क़द्र) जानते थे। उन का देहांत होने पर उन के पुत्र गांव तहसीलने लगे। वह थे लौंडे; लोगों के कहने-सुनने में आ गए और लगे हम पर रोब जमाने। हम ने सरकार! आज तक किसी का रोब सहा नहीं। बस एक रोज उन से हमारी कहा-सुनी हो गई। हम ने उन्हें घर के डांट दिया। बस, उसी दिन से वह हमारे शत्रु हो गए। हम ने भी सोचा, जल में रहकर मगर से बैर ठीक नहीं। न-जाने कब वार कर दें। वह जमींदार, हम किसान; सब उन्हीं की-सी कहनेवाले, हमारी-सी कहनेवाला कोई नहीं। यही सब सोचकर हम ने ज़मीन छोड़ दी और गांव से चले आए।'

शिवमोहन—'फिर क्या करते रहे?'

शेरसिंह—'फिर एक जगह नौकरी की। वह भी ठाकुर ही थे। उन के यहां सरकार! हम पंद्रह बरस रहे। वह आदमी को पहचानते थे। इसीलिए इतने दिन उन के यहां निभ भी गए। उन के मरने पर हम ने एक दूसरी जगह नौकरी की; पर उन से हमारी पटी नहीं। वह भी छोड़ दी। तब से फिर ऐसा ही रहा कि कहीं छः महीने रहे, कहीं चार महीने। कोई ऐसा आदमी ही न मिला, जो हमारी क़द्र करता। परसाल एक के यहां लखनऊ में नौकरी की; उन से झगड़ा हो गया। तब से हम ने यह प्रण कर लिया था कि चाहे भीख मांग खाएं पर नौकरी न करेंगे; करेंगे भी तो ऐसे आदमी के यहां, जो हमारी क़द्र करे। अब सरकार, आप लोगों की ढेरी में आए हैं। आप लोगों ने दया करके शरण में रक्खा है। निभ जाए, तो अच्छा ही है।'

शिवमोहन—'तुम निभाना चाहोगे, तो निभेगी।'

शेरसिंह—'हम तो चाहते ही हैं; पर मुख्य-निभाना आप लोगों के हाथ है। हम हैं घोड़े और वह भी अरबी। अरबी घोड़े महीनों बंधे खाते हैं; पर लड़ाई के मैदान में सारी खिलाई एक दिन में वसूल कर देते हैं। सरकार! ऐसी ही बात है। समझनेवाले समझते हैं। नासमझ क्या समझ सकते हैं? उन बातों के कहने से कोई फायदा नहीं, वह समय ही और था।'

शिवमोहन शेरसिंह की बातें सुनकर चुप रह गए। अंत को बोले—'ठीक कहते हो।'

शेरसिंह ने रघुवीरसहाय से पूछा—'कुछ काम तो नहीं है सरकार !'

रघुवीरसहाय शेरसिंह की बातें सुनकर मन-ही-मन कुढ़ रहे थे। अतएव उन्होंने बड़े रूखेपन से कहा-'कोई काम नहीं।'

शेरसिंह—'तो जाता हूं सरकार ! घंटे आध-घंटे आराम करूंगा।'

यह कहकर शेरसिंह चला गया।

रघुवीरसहाय—'सुना आप ने ?'

शिवमोहन-'हां सुना। विचित्र आदमी है। बातूनी बड़ा है।'

रघुवीरसहाय—'जितनी बातें इस ने कहीं, उन पर आप विश्वास करते हैं।'

शिवमोहन-'कुछ समझ में नहीं आता-संभव है, ठीक हों।'

रघुवीरसहाय—'मुझे तो ज़रा भी विश्वास नहीं। मुझे तो यह आदमी बिलकुल झूठा और ढोंगी मालूम होता है। संभव है, यह कहीं चार छः वर्ष रहा हो; पर किसी आंख के अंधे और गांठ के पूरे के यहां रहा होगा। इस की बातों में आकर उस ने रख लिया होगा; काम कुछ विशेष होगा नहीं, इसलिए निभ गया होगा।'

शिवमोहन—'यह भी संभव हो सकता है। ख़ैर, मेरे जी में एक बात आती है।'

रघुवीरसहाय—'वह क्या ?'

शिवमोहन—'यह आदमी बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, अरबी घोड़ा बनता है। एक दिन इस की परीक्षा ली जाए

कोई कठिन काम बता दिया जाए। देखें, यह करता है या नहीं।'

रघुवीरसहाय– अजी यह क्या करेगा; बातों में टाल देगा।'

शिवमोहन— ख़ैर. देखना तो चाहिए।'

(४)

एक दिन रघुवीरसहाय के मामा के यहां से निमन्त्रण आया। रघुवीरसहाय के ममेरे भाई का विवाह था। उसी विवाह में सम्मिलित होने का निमन्त्रण था। रघुवीरसहाय के पिता ने उन से कहा—'मैं तो इतने पहले जा नहीं सकता, दो-चार आवश्यक मुक़दमे हैं। तुम अपनी मां, बहू और देवीसहाय को लेकर कल चले जाओ। मैं एक-दो दिन के लिए सीधे वहीं आकर सम्मिलित हो जाऊंगा।'

रघुवीरसहाय—'साथ में नौकर कौन ले जाऊं?'

शंकरसहाय—'कहार के लड़के को ले जाओ। उस से तुम्हारा काम चल जाएगा।'

रघुवीरसहाय—'हां चल तो जाएगा।'

शंकरसहाय—'तो बस ठीक है।'

रघुवीरसहाय—'कहिए, तो शेरसिंह को भी ले जाऊं।'

शंकरसहाय—'उसे ले जाकर क्या करोगे? वहां उस के लिए एक अलग नौकर की आवश्यकता होगी। दूसरे, बरात का मामला है। सभी तरह के आदमी होंगे। वहां यदि किसी से लड़ पड़ा, तो और अपयश मिलेगा। वैसे तुम्हारी इच्छा। मेरे तो यह किसी काम का है नहीं; मैं तो उस की सूरत से

जलता हूं। तुमने उसे रक्खा है—तुम्हारी इच्छा हो, ले जाओ।'

रघुवीरसहाय—'अच्छा! जैसा उचित होगा, करूंगा।'

दूसरे दिन चार बजे शाम की ट्रेन से सब लोगों ने प्रस्थान किया। शिवमोहन के कहने से रघुवीरसहाय ने शेरसिंह को भी साथ ले लिया था। शिवमोहन ने कहा था—'अच्छा है लेते जाओ, कुछ-न-कुछ काम तो करेगा ही। इस के सिवा दो आदमी साथ रहने से शान रहेगी।' चलते समय रघुवीर-सहाय ने शेरसिंह के हाथ में मोटा लट्ठ देखकर कहा—'यह लट्ठ क्या करोगे ले चलके। किसी से फ़ौजदारी करोगे क्या?'

शेरसिंह—'अजी सरकार अंगरेज़ बहादुर ने सब हथियार तो छीन लिए, अब लट्ठ बांधने से भी गए क्या? हम लोगों का तो यही एक सहारा है।'

रघुवीर—'मगर लट्ठ से अधिक काम तो निकलता नहीं; तलवार-बंदूक के सामने लट्ठ क्या काम दे सकता है?'

शेरसिंह—'बंदूक के सामने तो काम नहीं दे सकता; पर तलवार इस के सामने कोई चीज़ नहीं। 'पड़ा लट्ठ से काम भूल गई पट्टेबाज़ी (पटेबाज़ी)'। सरकार! लट्ठ की मार बहुत बुरी होती है। लट्ठ के सामने तलवार या भाला किसी काम का नहीं।'

रघुवीरसहाय शेरसिंह को मूर्ख समझ कर चुप हो गए।

आठ बजे रात को ट्रेन निश्चित स्टेशन पर पहुंची। स्टेशन से गांव चार कोस के अंतर पर था। स्टेशन पर दो बहेलियां और दो लट्ठबंद आदमी उपस्थित थे।

स्टेशन पर उतरते ही पहला प्रश्न रघुवीरसहाय ने यह उठाया कि 'इस समय चलना उचित है या नहीं ?' बहेलियों के साथ जो आदमी आए थे, उन्होंने कहा—'कोई चिंता नहीं, आप बेधड़क चलें।'

रघुवीरसहाय—'इधर डाके-वाके तो नहीं पड़ते ?'

वे आदमी बोले—'नहीं सरकार! इस समय इस की चिंता नहीं। डाके पड़ते हैं बारह बजे रात के पश्चात्। फिर हम लोगों का डाकू क्या कर सकते हैं ? अभी तो शाम ही हुई है, दस बजे तक घर पहुंच जाएंगे, आप बेखटके चलें।'

रघुवीरसहाय ने शेरसिंह से पूछा—'क्यों भाई शेरसिंह ! मेरी तो राय यह है कि रात यहीं स्टेशन पर बितायें और सवेरे चलें। तुम्हारी क्या राय है ?'

शेरसिंह ने उत्तर दिया—'आप की राय ठीक है; मेरी भी यही राय है।'

शेरसिंह की बात सुनकर बहेलियों के साथ आए हुए आदमी बहुत हंसे। उन्होंने शेरसिंह से पूछा–तुम कौन जाति हो भैया ?'

शेरसिंह–'हम तो ठाकुर हैं।'

एक आदमी—'अरे राम-राम ! ठाकुर हो कर इतना डरते हो ?'

शेरसिंह के ओठों पर एक घृणा-युक्त मुसकिराहट दौड़

गई। उस ने कहा—'भाई! डर क्यों नहीं? जान सब को प्यारी होती है। दूसरे स्त्रियों का साथ है।'

वही आदमी—'तो कोई बात हो तो हमारा ज़िम्मा; तुम चले चलो चुपचाप, रात-भर यहां पड़े रहकर क्या करोगे? तकलीप (तकलीफ़) होगी।'

रघुवीरसहाय—'भई, जैसा तुम लोग उचित समझो, करो मैं तो इस संबंध में कुछ अधिक नहीं जानता।

वही आदमी—'आप चलिए, देर मत कीजिए, देर करने से और रात हो जाएगी।'

शेरसिंह—'चलिए सरकार! ये लोग कहते हैं, तो चलिए। डर क्या है—अभी शाम ही हुई है; चांदनी रात है।'

शेरसिंह की यह बात सुनकर वे दोनों आदमी हंसकर बोले—'हां, अब तुम ने ठाकुरपन की बात कही। पहले तो बड़ी बोदी बात कही थी।'

शेरसिंह कुछ बिगड़ कर बोला—'देखो भई! मेरे ठाकुर-पन की हंसी मत उड़ाओ, नहीं तो अच्छा न होगा। मैं ठाकुर हूं तो अपने लिए, नहीं हूं तो अपने लिए। मुझे यहां किसी ससुरे से नातेदारी नहीं करनी है।'

रघुवीरसहाय कुछ बिगड़ कर बोले—'तो यहां लड़ने आए हो? अपना-अपना काम देखो।'

वे आदमी बोले—'नहीं मालिक! लड़ाई-बड़ाई की कोई

बात नहीं, आपस की बातें हैं। अच्छा, तो अब सवार हो जाइए।'

सब लोग सवार हुए। एक बहेली पर रघुवीरसहाय की माता, पत्नी तथा उन का छोटा भाई देवीसहाय सवार हुआ। दूसरी पर रघुवीरसहाय तथा कहार का लड़का जिस की उम्र चौदह-पन्द्रह वर्ष की थी, बैठ गया। जो आदमी बहेलियों के साथ आए थे, वे पैदल चले।

थोड़ी दूर चल कर शेरसिंह भी उचक कर रघुवीरसहाय की बहेली पर बैठ गया।

उन दोनों आदमियों में से एक ने शेरसिंह से कहा—'क्यों भैया डट गए?'

शेरसिंह—'और क्या, जब जगह है तो क्यों पैर तोड़ें?"

दूसरे आदमी ने कहा—'और जो डाकू मिले?'

शेरसिंह—'मिले तो तुम काहे के लिए हो? तुम्हारे ही कहने से तो हम लोग इस समय चले हैं। मैं बुड्ढा आदमी ठहरा, मुझ से क्या हो सकेगा?'

पहला—'कुछ चिन्ता नहीं, आप बे खटके चले चलिए, हमारे रहते आप का कोई कुछ नहीं कर सकता।'

दो कोस चलने के पश्चात् एक नदी मिली। यह नदी इस समय सूखी पड़ी हुई थी।

नदी के पास पहुंच कर गाड़ीवानों ने कहा—'संभले रहिएगा, इस जगह उतार है।'

बहेलियां छम-छम करती हुई नदी में उतरीं और दूसरी ओर निकल गईं। दूसरी ओर चढ़ाव था, अतएव बैलों को यथेष्ट परिश्रम पड़ा। उस पार पहुंचने पर गाड़ीवानों ने बहेलियां रोक दीं।

रघुवीरसहाय ने कहा—'चले चलो, रुक क्यों गए ?'

गाड़ीवानों ने कहा— सरकार! ज़रा बैलों को दम ले लेने दीजिए।'

बहेलियों को रुके कुछ ही क्षण हुए थे कि नदी के कगरों से आठ-दस आदमी ढाटा बांधे, हाथों में लट्ठ लिए तेज़ी के साथ निकले और डांटकर बोले-' बस, ख़बरदार, जो कुछ पास हो, रखते जाओ।'

उन की ललकार सुन कर गाड़ीवान तो कूदकर भागे। वे आदमी जो बहेली के साथ थे, डाकुओं की ललकार सुन कर हत-बुद्धि से हो गए।

इधर शेरसिंह तुरन्त बहेली पर से कूद पड़ा, और रघुवीरसहाय से बोला-' सरकार! आप चुपचाप बैठे रहिए। मेरे जीते-जी आप लोगों पर आंच नहीं आ सकती। मेरा कहा-सुना माफ़ कीजिएगा। बच गया, तो ख़ैर, नहीं तो आप के नमक-पानी से अदा हो जाऊंगा।'

रघुवीरसहाय डर के मारे बदहवास हो गए थे। उन के मुख से कोई बात न निकली।

उधर डाकुओं ने उन दोनों आदमियों के एक-एक लट्ठ रसीद किया। पहले तो उन्होंने भी एक-आध हाथ मारा,

परन्तु फिर लट्ठ फेंककर भाग खड़े हुए।

इधर शेरसिंह आगे बढ़कर बोला—'जिस ने अपनी मां का दूध पिया हो, मेरे सामने आए।'

इतना सुनते ही सब डाकू शेरसिंह पर टूट पड़े। कुछ क्षणों तक लाठियों की खटाखट के सिवा न कुछ सुनाई पड़ा और न दिखाई पड़ा। इस के उपरान्त 'हाय मार डाला।' 'अरे दैया रे!', 'हाय राम!' इत्यादि वाक्य सुनाई पड़े, साथ ही चार-पांच आदमी भदाभद गिरे। पांच मिनट तक यही दशा रही। इस के पश्चात् डाकू लोग भाग खड़े हुए।

लहू से तर शेरसिंह रघुवीरसहाय के पास आकर बोला—'सब भाग गए, नामर्द थे; पर मेरा भी काम तमाम हो गया—ओफ़्!' यह कहकर शेरसिंह गिर पड़ा और बेहोश हो गया। डाकुओं के भाग जाने पर गाड़ीवान और वे दोनों आदमी भी आ गए। देखने पर पांच डाकू बेहोश पड़े पाए गए।

(५)

शेरसिंह बहुत बुरी तरह घायल हो गया था। जीवन की आशा नहीं रही थी। दो महीने तक अस्पताल में पड़ा रहा; परंतु अंत को अच्छा हो गया। जब शेरसिंह चलने-फिरने के योग्य हो गया, तब एक दिन शंकरसहाय ने उस से कहा—'शेरसिंह! तुम ने हमारे बाल-बच्चों की रक्षा की, इस का बदला हम इस जीवन में नहीं दे सकते। आज से तुम हमारे भाई हो। तुम्हें जन्म-भर भोजन-वस्त्र और दस रुपए महीना

जेब-खर्च के लिए मिलेगा। तुम्हारे पश्चात् तुम्हारी पत्नी को भी यही मिलता रहेगा।

शेरसिंह बड़ी लापरवाई से बोला—'अजी सरकार! भोजन वस्त्र की तो मैंने आज तक कभी चिन्ता नहीं की। क़द्र-दान मिलना चाहिए। खाने के लिए चने भी मिलें, तो मस्त रहूं।'

रघुवीरसहाय बोले–'हम को पहले तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं हुआ था। हम तो तुम्हारी परीक्षा लेने वाले थे, पर तुम्हारी परीक्षा ईश्वर ने करा दी।'

शेरसिंह—'सरकार! यदि आप परीक्षा लेते तो क्या चिंता थी, और अभी क्या हुआ है, इच्छा हो तो अब परीक्षा ले लीजिए। जो निकल जाऊं, तो ठाकुर नहीं, चमार कहिएगा। हम तो जिस का नमक-पानी खाते हैं, उसी को अपने प्राण सौंप देते हैं। जब उस का जी चाहे ले ले।'

यह कहकर शेरसिंह मूछों पर ताव देता हुआ चला गया।

उस के चले जाने पर रघुवीरसहाय बोले–'मनुष्य-चरित्र एक ऐसी पहेली है, जिसे कभी कोई हल नहीं कर सकता।'

शंकरसहाय बोले– निस्संदेह, जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का रंग-रूप एक-दूसरे से भिन्न होता है, उसी प्रकार चरित्र भी। कोई कहां तक जाने और कहां तक समझे?'

पं० ज्वालादत्त शर्मा

आप का जन्म सन् १८८८ ई० में मुरादाबाद में हुआ। आप संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी और हिंदी भाषा के अच्छे ज्ञाता हैं। उर्दू के सुविख्यात कवियों पर आप ने हिंदी में कई आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं, जिन्हें हिन्दी-भाषा-भाषियों ने बहुत पसन्द किया है। पं० जी की कहानियां सरस्वती आदि उच्च कोटि की पत्रिकाओं में उस समय प्रकाशित होती थीं, जब कहानियों का रिवाज हिन्दी में बहुत कम था। पं० जी की वर्णन-शैली और भाषा शुद्ध, सरस और प्रशंसनीय है। समाज के करुणा-जनक दृश्य दिखाने में आप बहुत निपुण हैं। इधर कई वर्षों से आप ने व्यापार में पड़ कर लिखना कम कर दिया है, यह हिन्दी का दुर्भाग्य है।

... सरदार साहब! आपको मैं यह भी बता देना चाहता हूं कि बालिग से बालिग पुरुष भी इस काम के करने की सामर्थ्य नहीं रखते, इसलिए आप सावधान हो जाइए!

विधवा

(१)

राधाचरण की अकाल मृत्यु से उस के चचा-चाची को बहुत शोक हुआ। किन्तु अभागिनी पार्वती के लिए तो संसार ही अन्धकार-मय हो गया। उस के लिए तो संसार में आशा, उत्साह और सुख का सोलहो आने नाश हो गया। उस ने इस घोर दुःख को, इस अनभ्र वज्रपात को, दिल का खून कर के, किसी तरह सहन किया। वह न रोई, न चिल्लाई। उस ने इस असह्य दुःख को मन की पूरी ताकत से चुपचाप सहन किया। शोक के भारी बोझ से पार्वती का सुकोमल मन निस्सन्देह चूर-चूर हो गया। किन्तु विधि के इस विपरीत विधान में किसी का क्या वश था!

राधाचरण के चचा, रामप्रसाद, औसत दर्जे के आदमी थे। राधाचरण के पिता, गुरूप्रसाद का देहान्त, जब उस की अवस्था पांच वर्ष की थी तभी, हो गया था। सुनीति माता भी, पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही, स्वर्ग-लोक-गामिनी

हो गई थी। इस लिए बालक राधाचरण का पालन-पोषण चचा रामप्रसाद और उन की पत्नी हरदेवी ने ही किया था। उन के पास कुछ पैतृक मिलकियत थी, जिस की आमदनी से घर का खर्च चलता था। रहने को पक्का मकान था। पर इस पैतृक मिलकियत और रहने के मकान में—जायदाद का क्षय-रोग—कर्ज़ के कीटाणुओं ने प्रवेश कर लिया था। राम प्रसाद ने अपनी कन्या चमेली के विवाह में शहर के मूर्ख और निठल्ले आदमियों के मुंह से चिकनी-चुपड़ी बातें सुनने के लिए बहुत रुपया बरबाद किया था। विवाह के बाद, कोई एक सप्ताह तक, पकवान की सुगन्धि के साथ-साथ राम प्रसाद की इस मूर्खता-पूर्ण उदारता की बू भी महल्ले में सर्वत्र, और शहर में यत्र-तत्र, फैल रही थी। खस्ता कचौरी, मोती-चूर के लड्डू, गोल बालूशाही, कुरकरी इमरती और मसाले दार तरकारियों के साथ-साथ नये चमकते हुए 'इन्दुसम उज्ज्वल" रूपराज दक्षिणा की बात जहां-तहां होती थी। किन्तु रामप्रसाद के यश की उस स्निग्ध चांदनी में, उस के विमल यश की सफेद चादर में, कोई कलंक न हो, कोई धब्बा न हो सो बात नहीं। दुष्ट समालोचक, जिन्होंने ज्योनार में कई दिनों पहले से अल्पाहार करते रहने के कारण, बुरी तरह, खस्ता कचौरी और मेवा मिली मुलायम मिठाइयों का ध्वंस किया था, अपने दुष्ट, पर प्रकृतिदत्त स्वभाव से मजबूर हो कर बाल की खाल निकालने और रामप्रसाद की दूध की

गंगा में विष मिलाने लगे। कोई कहता था—कचौरियों में मोयन कम डाला गया और कोई बताता था कि शाक में नोन ज्यादा हो गया था। कोई लड्डुओं की बूंदी को ठोस, तो कोई बेसन की बरफ़ी को सख्त करार देता था। मतलब यह कि रामप्रसाद की मूर्खता का श्राद्ध करने वाले नर-पुङ्गवों की भी कमी न थी। किन्तु घरों की मालकिनें, जिन्होंने अपने बच्चों से रुपए छीनकर बटुओं में भर लिए थे और इस तरह एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया था, राम प्रसाद की प्रशंसा अपनी प्रलयङ्करी बुद्धि की सहायता से शत-शत मुख से कर रही थीं। इस प्रशंसा रूपी बीमारी का दौरा भी एक महीने से अधिक न रहा। हलवाइयों के हिसाब के साफ़ होते ही लोगों के बेकार अथवा खाली दिमाग़ भी इस खब्त से खाली हो गए। छः मास के बाद, रामप्रसाद के उकसाने पर भी किसी को लड्डुओं की बूंदियों में तरावट मालूम न होती थी—कोई उस विषय का उत्थान न करता था। इस से रामप्रसाद के श्लाघा सुनने की अभिलाष पर तुषार पात हो जाया करता था किन्तु उस की आशालता को पल्ल-वित करने वाला सूदख़ोर छज्जूमल महाजन 'पड़ोस' का हक़, करीब-करीब रोज़ निभा देता था।

जिस साल रामप्रसाद की लड़की चमेली का विवाह हुआ था, उसी साल राधाचरण बी० ए० में तीसरे नम्बर पर पास हुआ था। राधाचरण को स्कूल से ही उस की योग्यता के

कारण, छात्रवृत्ति मिलती थी। पर बी० ए० की फ़ीस और किताबों के लिए चचा रामप्रसाद ने १५०) उसे ज़रूर दिए थे। उसी साल 'गरीब नवाज़' लाला छज्जूमल ने यथा नियम अगले-पिछले जोड़कर रामप्रसाद से पांच हज़ार रुपयों की दस्तावेज़ लिखाकर उस की 'इज्जत' बचाई थी। कोई तीन हज़ार रुपए उस ने अपनी लड़की के विवाह में स्वाहा किए थे। किन्तु कर्ज़ का प्रसङ्ग उठते ही रामप्रसाद भतीजे की पढ़ाई का उल्लेख करते थे। उन के हिसाब से यदि राधाचरण न पढ़ता तो उन्हें ऋणी न बनना पड़ता। छोटी-छोटी बातों पर रामप्रसाद राधाचरण से कहते—'अभी तूने मेरी क्या सेवा की है? एक साल से पचास रुपए महीने कमाने लगा है। मुझे देख, तेरी पढ़ाई के कारण ही तबाह हो गया। इतना देना हो गया।'

सुशील राधाचरण अपने मूर्ख चचा की बात का उत्तर न देता था। नीची गर्दन करके वह सब कुछ सुन लेता था।

राधाचरण की मृत्यु से चचा और चाची को बेशक बहुत बड़ा दुःख हुआ, पर दुःख की उस तीव्र आग से जलते हुए भी रामप्रसाद ने राधाचरण के कारण, क़र्ज़दारी का ज़िक्र करने की प्रवृत्ति को बड़े यत्न से सुरक्षित रक्खा।

(२)

शोक की प्रबल लहरों में बही जाने वाली रामप्रसाद

दम्पती ने अपने धेवते का सहारा पाकर बहुत कुछ शान्ति लाभ किया। भाद्र पद की वर्षा के बाद जिस तरह सूर्य और अधिक असह्य हो उठता है उसी तरह शोक-सागर में स्नान करके रामप्रसाद-दम्पती का कठोर हृदय और अधिक सख़्त हो गया। अब वे बात-बात में कहते थे—' राधे हमें मार गया ! वह हमारा भतीजा नहीं, शत्रु था। हमें बरबाद करने आया था।'

पार्वती शोक-महानद की जिस प्रबल लहर में बही जा रही थी उस में तिनके का भी सहारा नहीं था। वह थी और अनन्त शोक की अनन्त लहरी थी। उस के लिए भाद्रपद के तरुण सूर्य की प्रखर धूप उत्ताप-हीन थी—प्रकाश-हीन थी। शरत्काल के लुभावने चन्द्रमा की ठंडी चांदनी उस के लिए सूर्य की धूप से कहीं अधिक प्रखर थी। उस के मन में शोक की प्रचण्ड अग्नि धू-धू जल रही थी। बाहर रामप्रसाद-दम्पती का कठोर व्यवहार उस अबला को बेदम किये देता था। शोक की अनन्त ज्वाला में, अनन्त विरह के प्रचण्ड अनल में, निराशा के घने अन्धकार में, उपेक्षा के दुर्गन्धिपूर्ण संसार में—सब कहीं—उसे परलोकगत पति का पूत और पवित्र मुखपद्म दिखाई देता था, मानो वह उस से मौन भाषा में कहता था—'प्रिये पार्वती, धैर्य धारण करो. त्रिताप दग्ध संसार में जब तक हो, जैसे बने काल-यापन कर लो। स्वर्ग में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूं। मैं तुम्हें

अवश्य मिलूंगा। क्योंकि तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा हूं।'

पार्वती का छलनी की तरह छिदा हुआ हृदय शान्त हो जाता था। रामप्रसाद-दम्पती का कठोर व्यवहार उस के लिए सुकोमल हो जाता था। संसार भी उस की दृष्टि में उतनी घृणा का पात्र नहीं रहता था; उस पर से उस की विरक्ति की मात्रा कम हो जाती थी। संसार के अन्तरिक्ष में ही, इसी संसार के आकाश में ही, उस के परलोकवासी पति के प्रभा-पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब मध्याकाश में न सही, हृदयाकाश में ही सही—दिखाई पड़ता था। इसलिए संसार उस के लिए उतना हेय नहीं रहता था; कुछ काम की चीज़ हो जाता था।

सास के कुलिशसम कठोर वाक्यों और उस से भी बढ़ कर परुष-तर पार्थिव व्यवहारों को वह अनायास सह लेती थी। मृत्यु शय्या पर पड़े पति के ज्योतिर्हीन नेत्रों का कातर भाव उसे कभी न भूलता था। उस के आखिरी शब्द—'प्रिये पार्वती—' आज भी उस के कानों में गूंज रहे थे। उस कातर भाव की शब्द-हीन भाषा का मर्म भी उस ने ठीक ठीक समझ लिया था। चचा-चाची का कठोर-स्वभाव और पार्वती के पीसाल की शोचनीय अवस्था ही उस कातर भाव का प्रधान उपादान थी।

पार्वती हिन्दी-मिडल पास थी। राधाचरण ने बड़े आग्रह से उसे अंगरेज़ी भी पढ़ाई थी। उस का विचार था कि वह

उस से प्रवेशिका परीक्षा दिलाएगा; किन्तु उस की अकाल मृत्यु ने, बहुत सी अन्य बातों के साथ, इस विचार को भी कार्य में परिणित न होने दिया।

पति की मृत्यु के बाद अभागिनी पार्वती को पुस्तक छूने का मौका ही न मिलता था। घर में उस की कोई सत्ता ही न थी। सास राधाचरण की मृत्यु का कारण उसे ही समझती थी। पार्वती अन्न पीसती है, चौका-बरतन साफ़ करती है, भोजन बनाती है, किन्तु फिर भी सास-ससुर की सहानुभूति का पात्र नहीं बनती। फिर भी उन के मुंह से कभी मीठी बातें नहीं सुनती। सुनती है कर्जदारी का कारण, अपने दुर्भाग्य की गाथा और कभी-कभी गूढ़ प्रेम के परदे में पति की निन्दा।

पार्वती को कुटिलता-पूर्ण संसार में सहानुभूति का चिह्न कहीं दिखाई न देता था। उस के एक चचेरा भाई था, वह कहीं चपरासी था। पर था विवाहित। इसलिए ग़रीबी के फलों—सन्तान की बहुतायत से माला-माल था। अत्यन्त गर्मी पड़ने के बाद वर्षा होती है। बहुत तप चुकने पर धरा-धाम जलकी अनन्त धाराओं से साबित हो जाता है। पार्वती ने भी निराशा के घोर अन्धकार में, सास ससुर के कठोर व्यवहार रूप नरक में, उपेक्षा के समुद्र में, शोक के महा-सागर में ध्रुव तारे का दर्शन किया। उसे देखकर दिग्भ्रष्टा पार्वती ने कर्त्तव्य-पथ का निश्चय कर लिया। सामने खड़ी

अलमारी में भरी हुई पुस्तकें उसे मानो अपनी-अपनी भाषा में सान्त्वना देने लगीं। वे कहने लगीं—'पार्वती, तू लिखी-पढ़ी है, हम तेरी साथिन हैं। दुःख में, शोक में, सन्ताप में सदा-सर्वदा—हम तेरी साथिन हैं। हमें घृणा करना नहीं आता उपेक्षा करनी नहीं आती। हम से भले कोई दिक़ हो जाए, हम किसी से दिक़ नहीं होतीं।' पुस्तकों की विभिन्न, पर मौन, भाषा को उस ने साफ़-साफ़ समझा। उस के भग्न हृदय में शान्ति की अस्फुट किरण का उदय हुआ। अलमारी की चुनी हुई किताबों में उस ने साक्षात् अभयदा सरस्वती के दर्शन किए। बहुत समय के बाद मानों मा सरस्वती के इशारे से ही उस ने अलमारी में से एक पुस्तक निकाली। पुस्तक थी सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार स्माइल्स साहब की 'Self-Help' या आत्मावलम्बन। चटाई पर बैठकर पार्वती उसे पढ़ने लगी।

पुस्तक के अभी दो-ही-चार पृष्ठ पढ़े होंगे कि रामप्रसाद की स्त्री वहां आ पहुंची। पार्वती को पुस्तक पढ़ते देखकर उस के शरीर में आग लग गई। उस ने अपने अभ्यस्त अनेक कुवाक्यों का विष उगल कर अन्त में कहा—'पुस्तकें पढ़कर ही तू राधे को चट कर गई। तू नार नहीं नागन है। भगवान्! भगवान्! मेरे घर में ऐसी डायन कहां से आ गई! वह था—तबाह कर गया; तू है—तबाह करने की फ़िक्र में है।'

हिरन के बच्चे पर शेरनी को गुर्राता देखकर जिस तरह

उस का प्रणयी शेर भी गरजने लगता है, उसी तरह राम-प्रसाद भी गरीब पार्वती पर टूट पड़ा। उस ने भी स्वस्ति वाचन के बाद कहा—ठीक तो कहती हैं। यह नार नहीं, नागन है। कहीं को मुंह काला भी तो नहीं करती। मैं ऐसी नागन को पालना नहीं चाहता। उसे खा गई। अब मुझे खाएगी क्या?

इधर रामप्रसाद बक रहा था, उधर पार्वती के हृदय में अनेक तरंगे उठ रही थीं। उन्हीं तरङ्गों में उस ने अपने पति राधाचरण के दर्शन किए। इस समय उस की आंखों में कातरता के साथ-साथ दुःख भी था, विषाद भी था और अभागिनी पार्वती के लिए थी—गहरी सहानुभूति। स्माइल्स साहब की आत्मा भी अबला पार्वती को पुस्तक के रूप में खूब बल प्रदान कर रही थी। पार्वती ने पुस्तक को बंद कर दिया। पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर सोने के अक्षरों में छपे 'Self-Help' के मनोहर शब्द पार्वती के अश्रु-पूर्ण नेत्रों को अपनी ओर खींचने लगे।

(३)

दूसरे दिन प्रातःकाल पार्वती ने बड़ी शान्ति से अपनी सास को समझा दिया, कि मैं कुछ दिनों के लिए अपने भाई के पास जाना चाहती हूं। आप उसे एक चिट्ठी लिखवा दीजिए।

सास को मनचाही बात हाथ लग गई। उस ने उसी

समय स्त्री-जन-सुलभ नमक मिर्च लगाकर अपने पति राम-प्रसाद से कह दिया। उन्होंने पहले तो 'हां' 'हूं' की। फिर धर्म और स्वभाव की साथिनी स्त्री के कहने-सुनने पर सुखदयाल को एक चिट्ठी लिख दी।

चार दिन बाद बहू चली जाएगी—इसलिए बहू के साथ अधिक कठोर व्यवहार न करना चाहिए, यह सोचकर राम-प्रसाद-दम्पती का व्यवहार पार्वती के साथ अपेक्षाकृत अच्छा हो गया है। घर के कामों के साथ अब उसे गालियों का बोझा वहन नहीं करना पड़ता। पर कर्जदारी के कारण का ज़िक्र यथा-नियम प्रतिदिन एक-दो बार हो जाता है।

राधाचरण को मरे अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ था। इसी थोड़े समय में ही घर की हरएक चीज़ पार्वती के लिए बिलकुल बदल गई थी। घर के आदमियों के साथ घर के दरोदीवार भी उसे काटने दौड़ते थे। मूल्य समाप्त न होने के कारण अभी तक उस के नाम कुछ समाचार-पत्र आते थे। पार्वती समय मिलने पर उन्हें पढ़ लेती थी। आज के 'हितकारी' में उस ने 'आवश्यकता'—के स्तम्भ को बहुत ध्यान से पढ़ा।

तीसरे दिन जवाब आ गया कि शनैश्चर की रात को सुखदयाल बहन को लेने के लिए आवेगा। बृहस्पतिवार को पत्र मिला था। पार्वती को सिर्फ़ दो रोज़ का मिहमान समझ कर सास और ससुर का कठोर हृदय और ढीला पड़ गया। पार्वती

की सेवा और उस के कभी न डिगने वाले शील में उन्हें अब बहुत कुछ भलाई दिखाई देने लगी। विच्छेद के विचार ने निस्सन्देह उन की मानसिक कलुषता को बहुत कुछ दूर कर दिया।

काल भगवान् किसी की उपेक्षा नहीं करते। सूर्य के रथ का धूरा कभी नहीं टूटता। काल भगवान् के प्रधान सहचर सूर्यदेव सुखी; दुःखी—सभी—को पीछे छोड़ते हुए रथ बढ़ाए चले ही जाते हैं। शनैश्चर की रात को सुखदयाल—दैन्य और दारिद्र्य की मूर्त्ति सुखदयाल आ गया। बहन को गले लगाकर वह बहुत रोया। दूसरे दिन प्रातःकाल की ट्रेन से वह पार्वती को लेकर घर को रवाना हो गया।

पार्वती ने चलते समय सिर्फ़ अपने पति की पुस्तकों का एक ट्रङ्क अपने साथ लिया। बाकी न कोई ज़ेवर और न दो धोतियों को छोड़कर कोई कपड़ा। भरा हुआ घर, जो उस के लिए पहले ही से खाली हो चुका था, उस ने भी खाली कर दिया। चलते समय सास ने ऊपरी मन से जल्द आने के लिए कहा और स्त्री-जन-सुलभ अश्रु-वर्षण का परिहास भी दिखाया।

पार्वती ने निष्कपट मन से जिस समय सास के चरण छुए, उस समय गरम-गरम आंसुओं की कुछ बूंदों ने भी हरदेवी के चरण छूने में उस के साथ प्रतियोगिता की।

(४)

पार्वती के आने से सुखदयाल की गरीबी का, पर पैतृक, और इसी लिए पक्का, घर स्वर्ग बन गया। उस के बालक, जो निर्धनता के कारण शिक्षा न पा सकते थे, बुआ पार्वती से पढ़ने लगे। सुखदयाल की बड़ी लड़की शान्ति उस से हिन्दी-शिक्षा के साथ-साथ सिलाई का काम सीखने लगी। थोड़े ही दिनों में पार्वती और शान्ति को सूई के प्रताप से कुछ कम दो रुपए रोज़ की आमदनी होने लगी। पार्वती के कहने पर सुखदयाल एक अच्छी गाय खरीद लाया। अब उस के घर में सब कुछ था। विद्या थी, धन था और गोरस था। सुखदयाल की स्त्री चमेली पार्वती को अपनी समृद्धि का मूल कारण समझती थी। वह उसे साक्षात् देवी समझती थी। प्रातःकाल उठ कर उस के चरण छूती थी। घर का हर काम उस की आज्ञा लेकर करती थी।

एक वर्ष बीत गया। पार्वती हिन्दू-गर्ल्स स्कूल में हिन्दी पढ़ाती है। इसी वर्ष उस ने प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली है। ५०) मासिक वेतन मिलता है। अब सुखदयाल के बालक, जो एक वर्ष पहले लावारिस और आवारा घूमते फिरते थे, साफ़ कपड़े पहन कर भले बालकों की तरह बगल में पुस्तकें दबाए स्कूल जाते हैं। लड़की शान्ति भी पार्वती के साथ स्कूल में काम करती है। देवि स्वरूपिणि बहन पार्वती की बदौलत सुखदयाल ने भी चपरासगिरी के कर्कश हाथों से

छुटकारा पाकर सौदागरी की दूकान खोल ली है ।

सुखदयाल का घर भी अच्छा खासा बालिका-विद्यालय था। महल्ले भर की छोटी बड़ी अनेक लड़कियां स्कूल से इतर समय में पढ़ने और सूई का काम सीखने आती थीं। विद्यादान का द्वार सदा उन्मुक्त रहता था। पार्वती के परोपकार आदि सद्गुणों की प्रशंसा महल्ले से बढ़कर शहर भर में फैल गई थी।

चार वर्ष और बीत गए। पार्वती ने प्राइवेट तौर पर पहली कक्षा में बी० ए० पास किया। रायपुर के कलेक्टर की पत्नी ने अपने हाथ से पार्वती की सफ़ेद साड़ी पर प्रतिष्ठा-सूचक मेडल पहनाया। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल की प्रधान शिक्षयित्री (लेडी प्रिन्सिपल) के पद पर (जिस की शोभा, उपयुक्त हिन्दु पण्डिता के न मिलने के कारण, अब तक क्रिश्चियन लेडियां बढ़ाती रहीं) पण्डिता पार्वती का यशोगान होने लगा। वेतन भी एक दम २५०) हो गया।

(५)

रविवार का दिन था। स्कूल के बड़े कमरे में प्रबन्ध-कारिणी समिति के सभ्यों की अन्तरङ्ग सभा हो रही थी। मेम्बर सभी स्त्रियां थीं। राय रामकिशोर बहादुर की पत्नी जो स्कूल की आनरेरी सेक्रेटरी थीं, प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक विषय पेश कर रहीं थीं। राय बहादुर की पत्नी ने कहा—

अब मैं आज की बैठक का अंतिम विषय अर्थात् चपरासी के काम के लिए आई हुई दरखास्तें पेश करती हूं। मेरी सम्मति में जिन लोगों की दरखास्तें हैं, उन्हें बिना देखे नौकर रखना ठीक न होगा। चपरासी बूढ़ा तो होगा ही, पर साथ ही साथ चिड़चिड़ा या दुर्बल भी न होना चाहिए, और यह ऐसी बात है जो बिना देखे ठीक नहीं हो सकती। अब मैं इस विषय में आप की या बाई जी की (मतलब था प्रिन्सिपल पार्वती से) जैसी आज्ञा हो वैसा करूं।

उपस्थित अन्य तीन महिलाओं ने एक स्वर से कहा—इस विषय में बाईजी की आज्ञानुसार ही काम होना चाहिए, क्योंकि बाईजी की आज्ञाएं वहन करने और दरबानी के लिए ही चपरासी की नियुक्ति होगी।

पार्वती ने अपने शान्त, पर प्रभा-पूर्ण, मुख-कमल को खिलाते हुए कहा—मैं रायबहादुर की पत्नी से सहमत हूं। आदमी को देखकर ही रखना अच्छा होगा। मनुष्य के चेहरे से उस के गुण दोषों का बहुत पता लग जाता है। उस दिन 'रैशनल थाट' में मिस्टर अरण्डेल का, आप ने सेक्रेटरी महोदया! इसी विषय पर एक लेख पढ़ा था।

रायबहादुर की पत्नी ने कहा—पढ़ा तो था। पर समझा था कम। आजकल आप का पूरा समय और शक्ति 'विधवा-आश्रम' की स्थापना में लग रही है। इस तरह आप देश की बड़ी भारी सेवा कर रही हैं। आप का कुछ भी समय

खाली होता तो मैं आप से अंगरेजी-साहित्य का थोड़ा बहुत अध्ययन करके अपनी इस कमी को ज़रूर पूरा करती। पर मेरे मूर्ख रह जाने से देश की विधवाओं की दुःख भरी शोचनीय अवस्था को सुधार देने वाले ' विधवा-आश्रम ' की स्थापना कहीं बढ़कर आवश्यक और एकान्त कर्त्तव्य है।

पार्वती ने मुस्कराते हुए कहा—धन्यवाद । आप की सहायता और ईश्वर की कृपा से ही यह काम पूरा हो सकेगा। आप सुन कर प्रसन्न होंगी कि हमारे प्रजा-प्रिय छोटे लाट महोदय ने हिमालय पार्श्व के उस बड़े भू-खण्ड को विधवा-आश्रम के लिए देने की कृपा की है । चन्दा भी कुछ कम एक लाख हो गया है। ईश्वर की कृपा हुई तो अब यह कार्य्य शीघ्र ही पूर्ण हो जाएगा।

रायबहादुर की पत्नी ने बड़े हर्ष के साथ कहा—अब काम के पूरा होने में कुछ सन्देह नहीं। जिस दिन आप ने आश्रम के लिए अपना जीवन देने का महा प्रण किया था हमें क्या, देश के सभी हितैषियों को, उसी दिन काम के पूरा होने का पक्का भरोसा हो गया था।

पार्वती ने बड़ी सरलता से कहा—बहन, धन्यवाद । हां तुम्हारी अंगरेजी-साहित्य पढ़ने की बात रही जाती है । उस के विषय में मेरा निवेदन है कि आप रायबहादुर से पढ़ें। स्त्रियों के लिए पति से बढ़कर शिक्षक और कोई नहीं। लड़कियों को तो माता-पिता या अन्य कोई शिक्षक पढ़ा

सकता है। पर स्त्रियों का, या साहित्य की भाषा में प्रौढ़ाओं का परम गुरु और शिक्षक पति ही है। आशा है आप मुझे इस वक्तव्य के लिए क्षमा करेंगी।

रायबहादुर की पत्नी ने सौजन्य दिखाते हुए लेडी प्रिन्सिपल का धन्यवाद किया और साथ ही सभा का कार्य्य भी समाप्त कर दिया।

(६)

कंगाल भारत की विभूति का कल्पित स्वप्न देख कर आज भी अनेक विदेशी चौंक उठते हैं। किन्तु जिन लोगों ने भारत के गांव देखे हैं, एक-वस्त्रधारी कृश-काय अस्थि-चर्म्मावशिष्ट भारत-गौरव किसानों को देखा है वे भारत की विभूति को खूब समझते हैं।

गर्ल्स-स्कूल में आठ रुपए की चपरास के लिए इतने आदमी आवेंगे—किसी को खयाल भी न था। अनेक बूढ़े आदमी पांत बांधे बैठे थे। रायबहादुर की पत्नी और सेकेण्ड मिस्ट्रेस सुशीला देवी ने उस भीड़ में से चार आदमियों को चुन लिया। इन्हीं में से एक को बड़ी बाई जी चुनेंगी। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में परदे और सदाचार का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। इसीलिए किसी नौकर की नियुक्ति के विषय में बहुत सावधानता से काम लेना पड़ता है। स्कूल भर में सिर्फ चपरासी का काम ही बूढ़े मर्द के सिपुर्द था, बाकी सब कामों पर स्त्रियां ही नियुक्त थीं।

दस बजते-बजते लेडी प्रिन्सिपल की गाड़ी स्कूल के बरामदे में पहुंच गई। विभिन्न कक्षाओं की विभिन्न पंक्तियों में खड़ी बालिकाओं ने बड़ी श्रद्धा से प्रधानाध्यापिका को प्रणाम किया। गाड़ी से उतर कर वे सीधी आफिस में पहुंचीं। रायबहादुर की पत्नी वहां पहले ही से उपस्थित थीं। प्रिन्सिपल के पहुंचने पर दासी ने बारी-बारी से उन चारों आदमियों को बुलाया।

पहले आदमी को देखते ही पार्वती के विस्मय का ठिकाना न रहा। वह बूढ़ा आदमी और कोई न था-अभागा राम प्रसाद था उसे देखकर पण्डिता पार्वती के हृदय में क्षण भर के लिए लज्जा का उदय हुआ। किन्तु उस ने तत्काल ही अपने को संभाल लिया।

सौ मील की दूरी पर आठ रुपए की नौकरी के लिए वह क्यों आया है? मालूम होता है, उन की मिलकियत और मकान चाटुकार पड़ोसी सूदखोर की विशाल तोंद में जरूर समा गया है। रामप्रसाद के मलीन और चिन्तित मुख को देखकर करुण-हृदया पार्वती के मन का अन्तस्थल तक हिल गया। उस ने दूसरी तरफ़ को मुंह करके अनमने भाव से सन्देह निवारण के लिए पूछा—'आप का नाम?'

'रामप्रसाद पाण्डे।'

'मकान?'

'बिलासपुर।'

'इतनी दूर नौकरी के लिए क्यों आए ?'

'मां, पेट की खातिर !'

'घर पर खेती-बारी न थी।'

'मां, सब कुछ था; खेती क्या, ज़मींदारी भी थी।'

'वह क्या हुई ?'

'कर्ज़ में बिक गई।'

'कर्ज़ क्यों लिया था ?'

'मां, दुःख की बातें हैं उन्हें भूल जाना ही अच्छा है।'

'फिर भी सुनाइए तो ?'

'भतीजे की पढ़ाई के लिए।'

'और क्या ?'

'और कुछ नहीं—'

'लड़की की शादी में तो फजूलखर्ची नहीं की थी ?'

बूढ़े का चेहरा उतर गया। उस ने पार्वती का चेहरा कभी न देखा था और अब तो विद्या, मान और अधिकार की दीप्ति ने उसे बिलकुल ही बदल दिया था। बूढ़ा, बाई जी को मन-ही-मन देवी समझने लगा। रायबहादुर की पत्नी भी इस प्रश्नोत्तरी को एकाग्र मन से सुन रही थीं।

'मां, तुम देवी हो। सचमुच लड़की की शादी में ही बरबाद हुआ हूं।'

'तो भतीजे के पढ़ाई के लिए कुछ न कुछ रुपया कर्ज़ लेना पड़ा होगा ?'

'मां सिर्फ डेढ़ सौ रुपये !'

कहते-कहते बूढ़े के कोटर-लीन नेत्रों में आंसू भर आए।

'अच्छा आप बाहर बैठिए।'

बाकी तीन आदमियों में से एक आदमी चुन लिया गया। बूढ़ा रामप्रसाद उसी समय लेडी प्रिंसिपल के बङ्गले पर पहुंचाया गया।

आठ रुपए की नौकरी के लिए आए हुए रामप्रसाद को बङ्गले के नौकरों ने जब मालिक की तरह ठहराया तब उसे बहुत आश्चर्य्य हुआ।

शाम को भोजनोपरान्त पार्वती ने कहा—

'आप मुझे पहचानते हैं ?'

'मां, आप स्कूल की बड़ी बाई हैं।'

'मैं आप के भतीजे की अभागिनी स्त्री हूं।'

बूढ की निद्रा टूट गई। उसे मूर्छा आने लगी, पार्वती की भतीजी शान्ति ने संभाल लिया।

पार्वती ने बहुत चाहा कि रामप्रसाद यहीं रहे। पर वह किसी तरह राज़ी न हुआ। आत्म-ग्लानि की तीव्र अग्नि से वह अन्दर ही अन्दर जल रहा था। चलते समय पार्वती ने कभी-कभी दर्शन देने का वचन ले लिया। फिर एक एक हज़ार के दो नोटों को लिफ़ाफ़े में बन्द कर के बूढ़े ससुर के हाथ में दिया और बड़ी नम्रता से कहा—'यह चिट्ठी मांजी को दे दीजिएगा और अबकी बार उन्हें ज़रूर साथ लाइएगा।

पं० चतुरसेन शास्त्री

शास्त्री जी देहली के रहने वाले हैं। आयु ५० वर्ष के लगभग है। अच्छे वैद्य हैं। कई वर्ष बम्बई में काम करते रहे, फिर देहली चले आए, आजकल लखनऊ में निवास है।

"हृदय की परख" आप का पहला उपन्यास था, जिस ने हिन्दी-साहित्य-संसार में हलचल मचा दी थी। उस के बाद आप कहानियों की तरफ झुके। यहां भी आप को सफलता प्राप्त हुई। जो कुछ लिखते हैं, उस में डूबकर लिखते हैं, और अपने मन्तव्य के अनुकूल लिखते हैं। कोई पसन्द करेगा, या न करेगा, इस का ज़रा ख़्याल नहीं करते।

आप की भाषा सजीव, लालित्यमय और काव्य-पूर्ण होती है, परन्तु कहीं कहीं अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं, जो बहुत अखरते हैं।

This book is an interesting book but in its own way. Some people may not like it. In this ~~storys~~ Stories have been writen and ~~the~~ Some stories are writen useless here.

भिक्षुराज

(१)

मसीह के जन्म से २५० वर्ष प्रथम। ग्रीष्म की ऋतु थी और सन्ध्या का समय, जब कि एक तरणी कांबोज के समुद्र-तट से दक्षिण दिशा की ओर धीरे-धीरे अनन्त सागर के गर्भ में प्रविष्ट हो रही थी।

इस क्षुद्रा तरणी के द्वारा अनन्त समुद्र की यात्रा करना भयकर दुःसाहस था। वह तरणी हल्के, किन्तु दृढ़ काष्ठ-फलकों को चर्म-रज्जु से बांधकर और बीच में बांस का बंध देकर बनाई गई थी, और ऊपर चर्म मढ़ दिया गया था। वह बहुत छोटी और हल्की थी, पानी पर अधर तैर रही थी, और पक्षी की तरह समुद्र की तरंगों पर तीव्र गति से उड़ी चली जा रही थी। तरणी में एक ओर कुछ खाद्य पदार्थ मृदभांडों में धरा था, जिन का मुख वस्त्र से बंधा हुआ था। निकट ही बड़े-बड़े पिटारों में भूर्ज-पत्र पर लिखित ग्रन्थ भर रहे थे।

तरणी के बीचोंबीच बारह मनुष्य बैठे थे। प्रत्येक के हाथ में एक-एक पतवार थी. और वह उसे प्रबल वायु के प्रवाह के विपरीत दृढ़ता से पकड़े हुए था। उन के वस्त्र पीतवर्ण थे, और सिर मुंडित—प्रत्येक के आगे एक भिक्षा-पात्र धरा था। उन के पैरों में काष्ठ की पादुकाएं थीं।

तेरहवां एक और व्यक्ति था। उस का परिच्छद भी साथियों जैसा ही था। किन्तु उस की मुख-मुद्रा, अंतस्तेज और उज्ज्वल दृष्टि उस में उसके साथियों से विशेषता उत्पन्न कर रही थी। उस की दृष्टि में एक अद्भुत कोमलता थी. जो प्रायः पुरुषों में विशेष कर युवकों में, नहीं पाई जाती। उस के मुख की गठन साफ़ और सुंदर थी। उस के मुख पर दया, उदारता और विचारशीलता टपक रही थी।

वह सब से ज़रा हटकर, पीछे की तरफ़, बैठा हुआ और उस का एक हाथ नाव की एक रस्सी पर था। उस की दृष्टि सागर की चमकीली, तरंगित जल-राशि पर न थी। वह दृष्टि से परे किसी विशेष गंभीर और विवेचनीय दृश्य को देख रहा था। उस का मुख समुद्र-तीर की उन हरी-भरी पर्वत-श्रेणियों की ओर था, और उन के बीच में छिपते सूर्य को वह मानो स्थिर होकर देख रहा था। उस की ठुड्डी उस के कंधे पर धरी थी। कभी-कभी उसके हृदय में लंबी श्वास निकलती और उस के होठ फड़क जाते थे।

इस के निकट ही एक और मूर्ति चुपचाप पाषाण-प्रतिमा

की भांति बैठी थी, जिस पर एकाएक दृष्टि ही नहीं पड़ती थी उस के वस्त्र भी पूर्व-वर्णित पुरुषों के समान थे। परन्तु उस का रंग नवीन केले के पत्ते के समान था। उस के सिर पर एक पीत वस्त्र बंधा था, पर उस के बीच से उस के घुंघराले और चमकीले काले बाल चमक रहे थे। उस के नेत्र शुक्र-नक्षत्र की भांति स्वच्छ और चंचल थे। उसका अरुण अधर और अनिंद्य सुंदर मुख मंडल सुधावर्षी चंद्र की स्पर्धा कर रहा था। वास्तव में वह पुरुष नहीं, बालिका थी। वह पीछे की ओर दृष्टि किए उन क्षण-क्षण में दूर होती उपत्यका और पर्वत-श्रेणियों को करुण और डबडबाई आंखों से देख रही थी, मानो वह उन चिरपरिचित स्थलों को सदैव के लिए त्याग रही थी। मानो उन पर्वतों के निकट उस का घर था, जहां वह बड़ी हुई, खेली। वह वहां से कभी पृथक् न हुई, और आज जा रही थी सुदूर अज्ञात देश को, जहां से लौटने की उसे आशा ही न थी।

यह युवक और युवती ससागरा पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट् मगधपति प्रियदर्शी अशोक के पुत्र महाभट्टारक पादीय महा-कुमार महेंद्र और महाराज-कुमारी संघमित्रा थे, और उन के साथी बौद्ध-भिक्षु। ये दोनों धर्मात्मा, त्यागी राजसंतति-आचार्य उपगुप्त की इच्छासे सुदूर सागरवर्ती सिंहलद्वीप में भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर बौद्ध-धर्म का प्रचार करने जा रहे थे। महाराज-कुमारी के दक्षिण हाथ में बोधि-वृक्ष की टहनी थी।

आकाश का प्रकाश और रंग धुल गया, और धीरे-धीरे अंधकार ने चारों ओर से पृथ्वी को घेर लिया। बारहों मनुष्य नीरव अपना काम मुस्तैदी से कर रहे थे। कचित् ही कोई शब्द उन के मुख से निकलता हो, कदाचित् वे भी अपने स्वामी की भांति भविष्य की चिंता में मग्न थे। इसके सिवा उस अचल एकनिष्ठ व्यक्ति के साथ बातचीत करना सरल न था।

अंततः पीछे का भू-भाग शीघ्र ही गंभीर अंधकार में छिप गया। कुमारी संघमित्रा ने एक लम्बी सांस खींचकर उधर से आंखें फेर लीं। एक बार बहन-भाई दोनों की दृष्टि मिली। इस के बाद महाकुमार ने उस की ओर से दृष्टि फेर ली।

एक व्यक्ति ने विनम्र स्वर में कहा—'स्वामिन्! क्या आप बहुत ही शोकातुर हैं?' दूसरा व्यक्ति बीच ही में बोल उठा—

'क्यों नहीं, हम अपने पीछे जिन वनस्थली और दृश्यों को छोड़ आए हैं, अब उन्हें फिर देखने की इस जीवन में क्या आशा है? और, अब आज जिन मनुष्यों से मिलने को हम जा रहे हैं, उन का हमें कुछ भी परिचय नहीं है। उन में कौन हमारा सगा है? केवल अन्तरात्मा की एक बलवती आवाज़ से प्रेरित होकर हम वहां जा रहे हैं। आचार्य की आज्ञा के विरुद्ध हम में कौन निषेध कर सकता था।'

एक और व्यक्ति बोल उठा, उस की आंखें चमकीली और चेहरा भरा हुआ एवं सुन्दर था। उस ने कहा—'जब तुम इस प्रकार खिन्न हो, तब वहां चल ही क्यों रहे हो? अब भी

लौटने का समय है।' वह मुस्किराया। महाकुमार महेन्द्र ने मुस्किरा कर, मधुर स्वर से, कहा—' भाइयो! जब मैंने इस यात्रा का संकल्प किया था, तब तुम ने क्यों मेरे साथ चलने और भले-बुरे में साथ देने का इतना हठ किया था। ऐसी क्या आपत्ति थी?'

एक ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—' स्वामिन्! हम आप को प्यार करते थे।'

दूसरे ने मन्द हास्य से कहा—' वाह! यह खूब जवाब दिया! मैं स्वामी को प्यार करता हूं, इस लिए उस की जो आज्ञा होगी, वह मानूंगा-जहां वह लिवा जायगा, वहां जाऊंगा।' फिर उस ने गम्भीरता-पूर्वक कहा—' और मैं समझता हूं कि मैं उन अपरिचित मनुष्यों को भी प्यार करता हूं, जो इस असीम समुद्र के उस पार रहते हैं।'

यह कह कर उस ने उस अंधकारावृत दक्षिण दिशा की ओर उंगली उठाई, जहां शून्य भय के सिवा कुछ दीखता न था। उस ने फिर कहा— जो आत्मा के गहन विषयों से अनभिज्ञ हैं, जो तथागत के सिद्धान्तों को नहीं जान पाए हैं, जो दुःख में मग्न अबोध संसारी हैं, उन्हें मैं प्यार करता हूं। तथागत की आज्ञा है कि उन पर अगाध करुणा करनी चाहिए। मेरा हृदय उन के प्रेम से ओत-प्रोत है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमें बुला रहे हैं, चिरकाल से बुला रहे हैं। आह! उन्हें हमारी अत्यन्त आवश्यकता है। वे भवसागर में डूब रहे हैं,

चूंकि तथागत की ज्ञान-गरिमा से वे अज्ञात हैं। हम उन्हें अक्षय प्रकाश दिखाने जा रहे हैं। निस्सन्देह हमें कठिनाइयों और आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। हमारे पास रक्षा की कोई सामग्री नहीं और शस्त्र भी नहीं। फिर भी अहिंसा का महामोहास्त्र तो हमारे हाथ है. जो अन्त में सब से अधिक शक्तिशाली है।'

यह धीमी और गम्भीर आवाज़ उस अन्धकार को भेदन कर के सब साथियों के कानों में पड़ी। मानों सुन्दर पर्वत-श्रेणियों से टकरा कर हठात् उन के कानों में घुस गई हो। बारहों मनुष्यों में सन्नाटा छा गया, और सब ने सिर झुका लिए। इन शब्दों की चमत्कारिक, मोहिनी शक्ति से सभी मोहित हो गए।

दो घंटे व्यतीत हो गए। तरणी जल-तरंगों से आन्दोलित होती हुई उड़ी चली जा रही थी। राजनन्दिनी ने मौन भंग किया। कहा—' भाई, क्या मैं अकेली उस द्वीप की समस्त स्त्रियों को श्रेष्ठ धर्म सिखा सकूंगी ?'

महाराज कुमार ने मृदुल स्वर में कहा—'आर्या संघमित्रा! यहां तुम्हारा भाई कौन है ? क्या तथागत ने नहीं कहा है कि सभी सद्धर्मी भिक्षु-मात्र हैं।'

' फिर भी महाभट्टारक पादीय महाराजकुमार......।'

' भिक्षु न कहीं का महाराज है, न महाराजकुमार।'

'अच्छा भिक्षु-श्रेष्ठ! क्या मैं वहां की स्त्रियों के उद्धार में अकेली समर्थ होऊंगी?'

'क्या तथागत अकेले न थे?' उन्होंने जम्बू-महाद्वीप में कैसी क्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

'किन्तु भिक्षुवर! मैं अबला स्त्री......'

'तथागत की ओत-प्रोत आत्मा का क्या तुम्हारे हृदय में बल नहीं?'

संघमित्रा ध्यान-मग्न हो गई।

एक मनुष्य बीच ही में बोल उठा—'क्या हम लोग तीर के निकट आ गए हैं? समुद्र की लहरें चट्टानों से टकरा रही हैं।'

महाकुमार ने चिन्तित स्वर में कहा–' अवश्य ही हम मार्ग भटक गए हैं, और निकट ही कोई जल-गर्भस्थ चट्टान है। आप लोग सावधानी से तरणी का संचालन करें।' इतना कह कर उस ने एक दृष्टि चारों ओर डाली।

क्षण-भर बाद ही तरणी चट्टान से जा टकराई। कुमारी संघमित्रा औंधे मुंह गिर पड़ी, और समस्त सामग्री अस्त-व्यस्त हो गई। कुमार ने देखा. चट्टान जल से ऊपर है। वह उस पर कूद पड़े। खड़े होकर उन्होंने अनन्त जल-राशि को चारों ओर देखा। इसके बाद उन्होंने साथियों से. संकेत कर के, नीचे बुलाकर, कहा—'हमें यहीं रात काटनी होगी। प्रातः-काल क्या होता है, यह देखा जाएगा।' सब ने वहीं फलाहार किया, और उस ऊबड़-खाबड़, उजाड़ और सुनसान, क्षुद्र

चट्टान पर वे चौदहा व्यक्ति विना किसी छांह के अपनी-अपनी बाहों का तकिया लगाकर सो रहे।

(२)

प्रातःकाल सूर्य की सुनहरी किरणें फैल रही थीं। समुद्र की उज्ज्वल फेन-राशि पर उन की प्रभा एक अनिर्वचनीय सौंदर्य की सृष्टि कर रही थी। समुद्र शांत था, और जलचर जंतु जहां-तहां सिर निकाले, निश्शंक, स्वच्छ वायु में, श्वास ले रहे थे। कुछ दूर छोटे-छोटे पक्षी मंद कलरव करते उड़ रहे थे; वे नेत्र और कर्ण दोनों ही को सुखद थे।

महाकुमारी आर्या संघमित्रा चट्टान पर चढ़कर, सुदूर पूर्व दिशा में आंख गाड़कर, कुछ देख रही थीं। महाराज कुमार ने उस के निकट पहुंच कर कहा—'आर्या संघमित्रा क्या देख रही हैं?'

संघमित्रा के होंठ कंपित हुए। उसने संयत होकर, विनम्र और मृदु स्वर में, कहा—'भिक्षुवर! जिस पृथ्वी को हम ने छोड़ा है, वह यहीं सम्मुख तो है। पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो युग व्यतीत हो गया, और माता पृथ्वी के दूसरे छोर पर हम आ गए। सोचिए, अभी हमें और भी आगे, अज्ञात प्रदेश को, जाना है। क्या वहां हम ठहरकर सद्धर्म-प्रचार कर सकेंगे? देखो, प्रियजनों की दृष्टियां हमें बुला रही हैं, यह मैं स्पष्ट देख रही हूं।' उस ने अपना हाथ दूरस्थ पहाड़ियों की

धुंधली छाया की तरफ़ फैला दिया जहां पृथ्वी और आकाश मिलते दीख रहे थे। इस के बाद उस ने महाकुमार की ओर मुड़कर कहा—भाई, नहीं-नहीं भिक्षुराज! चलो लौट चलें। घर लौट चलें। सद्धर्म-प्रचार का अभी वहां बहुत क्षेत्र है।'

महाकुमार ने कुमारी के और भी निकट आकर उस के सिर पर अपना शुभ हस्त रक्खा, और मंद-मंद स्वर से गंभीर मुद्रा से कहा—'शांतं पापं आर्या संघमित्रा! शांतं पापं।' महाकुमारी वहीं बैठकर नीचे दृष्टि किए रोने लगी।

कुमार की वाणी गद्गद् हो गई थी। उसने कहा—'आर्या! हम ने जिस महाव्रत की दीक्षा ली है, उसे प्राण रहते पूर्ण करना हमारा कर्त्तव्य है। सोचो, हम असाधारण व्यक्ति हैं। हमारे पिता चक्रवर्ती सम्राट् हैं। मैं इस महाराज्य का उत्तराधिकारी हूं। मैं जहां भिक्षाटन करने जा रहा हूं, कदाचित् उस का राजा करद हो कर मेरे पास भेंट लेकर आता। परंतु मैं उस प्रदेश की गली-गली में एक-एक ग्रास अन्न मांगूंगा, और बदले में सद्धर्म का पवित्र रत्न उन्हें दूंगा। क्या यह मेरे लिए और तुम्हारे लिए भी आर्या संघमित्रा, अलभ्य कीर्ति और सौभाग्य की बात नहीं? क्या तथागत प्रभु को छोड़कर और भी किसी सद्धर्मी ने ऐसा किया था? प्रभु की स्पर्धा करने का सौभाग्य तो भूत और भविष्य में आर्या संघमित्रा! हमी दोनों जीवों को प्राप्त होगा; तुम्हें मुझ से भी अधिक, क्योंकि सम्राट् की कन्या होकर भिक्षुणी होना स्त्री-जाति में तुम्हारी

समता नहीं रखता। आर्यो! इस सौभाग्य की अपेक्षा क्या राजवैभव अति प्रिय है। सोचो! यह अधम शरीर और अनित्य जीवन जगत् के असंख्य प्राणियों का कैसा नष्ट हो रहा है। परन्तु हमें उसकी महाप्रतिष्ठा करने का कैसा सुयोग मिला है, कदाचित् भविष्य काल में, सहस्रों वर्षों तक हम लोगों की स्मृति श्रद्धा और सम्मान-सहित जीवित रहेगी।'

इतना कह कर महाकुमार मौन हुए। कुमारी धीरे-धीरे उन के चरणों में झुक गई। उस ने अपराधिनी शिष्या की भांति प्रथम बार सहोदर भाई से मानों मातृ-संबंध त्याग कर अपनी मानसिक दुर्बलता के लिए कर-बद्ध हो क्षमा-याचना की और महाकुमार ने कर्मठ भिक्षु की भांति उस का सिर स्पर्श कर के कहा—'कल्याण!'

इस के बाद ही नौका तैयार हुई, और वह फिर लहरों ताल पर नाचने लगी। बारहों साथी निस्तब्ध से समुद्र की उत्तुंग तरंगों में मानों उस क्षुद्र तरणी को घुसाए लिए जा रहे थे। एक दिन और एक रात्रि को अविरल यात्रा के बाद समुद्र-तट दिखाई दिया। उस समय धीरे-धीरे सूर्य डूब रहा था, और उस का रक्त प्रतिबिंब जल में आन्दोलित हो रहा था। महाकुमारी ने सूर्य की ओर देखा, और मन-ही-मन कहा—'सूर्यदेव! अभी उस चिर-परिचित प्रभात में मैं एक अविकसित अरविंद-कली थी। तुम्हारी स्वर्ण-किरण के सुखद स्पर्श से पुलकित होकर खिल पड़ी। मैं अपनी समस्त पंखुड़ियों

से खिलकर दिन-भर निर्लज्ज की भांति तुम्हें देखती रही। हाय! किन्तु तुम कितनी उपेक्षा से जा रहे हो! जाते हो तो जाओ, मैं अपना समस्त सौरभ तुम्हारे चरणों में लुटा चुकी हूं। अब सूखकर रज-कण में मिल जाना ही मेरी चरम गति है।'

उस ने अति अप्रकट भाव से अस्तगत सूर्य को प्रणाम किया, और टप से एक बूंद आंसू उस की गोद में रक्खे बोधि-वृक्ष पर टपक पड़ा।

तट आ गया, और महाकुमार गंभीर मुद्रा से उस पर कूद गए। उस के बाद उन्हों ने मुस्किराते हुए महाकुमारी को संकेत कर के कहा—'आर्या संघमित्रा! आओ, हम अभीष्ट स्थान पर पहुंच गए। इस क्षण से यह तट निर्वाण-तट के नाम से पुकारा जाए।'

सब ने चुपचाप सिर झुका लिया। तेरहों आत्माएं, एक के बाद दूसरी, उस अपरिचित किनारे पर सदैव के लिए उतर पड़ीं, और प्रार्थना के लिए रेत में घुटनों के बल धरती में झुक गईं।

(३)

वह राजवंशीय भिक्षु उस स्थान पर समुद्र-तट से और थोड़ा आगे बढ़कर, ठहर गया। उस के तेरहों साथी उस के अनुगत थे। उन्होंने उस बोधि-वृक्ष की वहां स्थापना की।

पत्थर और गारा इकट्ठा करके उन्होंने विहार बनाना शुरू किया। धीरे धीरे भवन निर्माण होने लगे, और आस-पास की अर्ध-सभ्य जातियों में उस की ख्याति होने लगी। झुंड के झुंड स्त्री-पुरुष इस सुन्दर, सभ्य, विनम्र तपस्वी के दर्शन करने को, उस का धर्म-संदेश और प्रेम मय भाषण सुनने को आने लगे। इस पुरुष-रत्न के सतेज स्वर, बलिष्ठ शरीर, निरालस्य स्वभाव, आनन्दमय और सन्तोषपूर्ण जीवन, दयालु प्रकृति ने उन सहस्रों अपरिचितों के हृदयों को जीत लिया। वे उसे प्राणों से अधिक प्यार करने लगे। उस के ज़ोरदार भाषण में वे महाप्रभु बुद्ध की आत्मा को प्रत्यक्ष देखने लगे। उन के पुराने अंध विश्वास—उपासनाएं—कुरीतियां इतनी शीघ्रता से दूर हो गईं, और वे अपने इस प्यारे गुरु के इतने पक्के अनुगामी हो गए कि उस प्रान्त भर में इस की चर्चा होने लगी, और शीघ्र ही वह स्थान टापू भर में विख्यात हो गया, और वहां नित्य मेला रहने लगा।

धीरे-धीरे वह वन्य प्रदेश विशाल अट्टालिकाओं से परिपूर्ण हो गया। अब वह एक बड़ा विहार था, और उस में केवल वही चौदह भिक्षु न थे, किन्तु सैकड़ों भिक्षु-भिक्षुणियां थीं, जो जगत् के सभी स्वार्थों और सुखों को त्याग कर पवित्र और त्याग-पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगी थीं।

समुद्र की लहरें किनारों पर टकरा कर उन के परिजनों की आनन्द-ध्वनि की प्रतिध्वनि करती थीं, और उन महात्मा

राजपुत्र और राजपुत्री एवं उन के साहसी साथियों को उत्साह दिलाती थीं, और अब उन के मन में कोई खेद न था। वे सब अति प्रफुल्लित हो अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे।

(४)

भिक्षुराज ध्यानावस्थित बैठे कुछ विचार कर रहे थे। आर्या संघमित्रा बोधि-वृक्ष को सींच रही थी। एक भिक्षु ने बद्धांजलि होकर कहा—'स्वामिन्, सिंघलद्वीप के स्वामी महाराज तिष्य ने आप को राजधानी अनुराधापुर ले जाने के लिए राजकीय रथ और वाहन तथा कुछ भेंट भी भेजी है; स्वामी की क्या आज्ञा है?'

युवक भिक्षुराज ने बाहर आकर देखा, सौ हाथी, सौ रथ और दो सहस्र पदातिक एवं बहुत से भिन्न-भिन्न यान, हैं। साथ में राजकीय छत्र-चंवर भी हैं। महानायक ने सम्मुख आ, नत-जानु हो प्रणाम कर कहा—'प्रभु, प्रसन्न हो। महाराजा की विनय है कि पवित्र स्वामी अनुचरों-सहित राज भवन को सुशोभित करें। वाहन सेवा में उपस्थित हैं। कुछ तुच्छ भेंट भी है।'

यह कह कर महानायक ने संकेत किया—तत्काल सौ दास विविध सामग्री से भरे स्वर्ण-थाल ले, सम्मुख रखकर पीछे हट गए। उन में बड़े-बड़े मोतियों की मालाएं, रत्नाभरण,

रेशमी बहुमूल्य वस्त्र, सुन्दर शिल्प की वस्तुएं बहुमूल्य मदिराएं और विविध सामग्री थी। महाकुमार ने देखा, एक क्षीण हास्य-रेखा उन के ओठों में आई, और उन्हों ने महानायक की ओर देखकर गम्भीर वाणी से कहा—'महानायक, भिक्षुओं के भिक्षा-पात्र में कहां यह राजसामग्री समावेगी; मेरे जैसे भिक्षुओं को इस की आवश्यकता ही क्या? इन्हें लौटा ले जाओ। महाराज तिष्य से कहना, हम स्वयं राजधानी में आते हैं।'

भिक्षुराज ने यह कहा, और उत्तर की प्रतीक्षा किए विना ही अपने आसन पर आ बैठे। राज्यवर्ग अपनी तमाम सामग्री सहित वापस लौट गया।

राजधानी वहां से दूर थी, और यात्रा की कोई भी सुविधा न थी, परन्तु उस टापू के राजा तिष्य को सद्धर्म का सन्देश सुनाना परम आवश्यक था। यदि ऐसा हो जाय, तो टापू में बौद्ध-सिद्धान्तों की व्याप्ति हो जाय।

महाराजकुमार ने तैयारी की। कुमारी और बारहों साथी तैयार हो गए। और वह दुर्गम यात्रा प्रारम्भ की गई। प्रत्येक के कन्धे पर उन की आवश्यक सामग्री और हाथ में भिक्षा-पात्र था। वे चलते ही चले गए। पर्वतों की चोटियों पर चढ़े। घने, हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण वन में घुसे। वृक्ष और जल से रहित रेगिस्तान में होकर गुज़रे। अनेक भयंकर ग़ार और ऊबड़-खाबड़ जंगल, पेचीली जंगली नदियां उन्हें

पार करनी पड़ीं। अन्त में राजधानी निकट आई।

राजा अंध-विश्वासों से परिपूर्ण वातावरण में था। सैंकड़ों जादूगर, मूर्ख, पाखण्डी उसे घेरे रहते थे। उन्होंने उसे भयभीत कर दिया कि यदि वह उन भिक्षु-यात्रियों से मिलेगा, तो उस पर दैवी कोप होगा, और वह तत्काल मर जाएगा। परन्तु उस ने सुन रक्खा था कि आगन्तुक चक्रवर्ती सम्राट् अशोक के पुत्र और पुत्री हैं। उस में सम्राट् को अप्रसन्न करने की सामर्थ्य न थी। उस ने उनके स्वागत का बहुत अधिक आयोजन किया। उसे खयाल था, महाराज-कुमार के साथ बहुत सी सेना-सामग्री, सवारी आदि होंगी। पर जब उस ने उन्हें पीत वस्त्र पहने, पृथ्वी पर दृष्टि दिए, नंगे पैरों धीरे-धीरे पैदल अग्रसर होते और महाराजकुमारी तथा अन्य अनुचरों को उसी भांति अनुगत होते देखा, तो वह आश्चर्य-चकित रह गया, और जब उस ने सुना कि उस की समस्त भेंट और सवारी उन्होंने लौटा दी है, और वे इसी भांति पैदल भयानक यात्रा कर के आए हैं, तो वह विमूढ़ हो गया। कुमार पर उस की भक्ति बढ़ गई। उस ने देखा, राजकुमार के सिर पर मुकुट और कानों में कुंडल न थे, पर मुख कान्ति से देदीप्यमान हो रहा था। उन्होंने हाथ उठाकर राजा को 'कल्याण' का आशीर्वाद दिया। राजा हठात् उठ कर महाकुमार के चरणों में गिर गया। समस्त दरबार के संभ्रान्त पुरुष भी भूमि पर लोटने लगे।

महाकुमार ने प्रबोध देना प्रारम्भ किया, और कहा—

'राजन्, क्षमा हमारा शस्त्र और दया हमारी सेना है। हम इसी राजबल से पृथ्वी की शक्तियों को विजय करते हैं। हम सद्धर्म का प्रकाश जीवों के हृदयों में प्रज्वलित करते फिरते हैं। हम त्याग, तप, दया और सद्भावना से आत्मा का शृंगार करते हैं। हे राजन्! हम अपनी ये सब विभूतियां आप को देने आए हैं, आप इन्हें ग्रहण करके कृतकृत्य हूजिए।'

राजा धीरे-धीरे पृथ्वी से उठा। उस ने कहा—'और केवल यही विभूतियां ही आप के इस प्रशस्त जीवन का कारण हैं?'

राजकुमार ने स्थिर-गम्भीर होकर कहा—'हां।'

'इन्हीं को पाकर आप ने साम्राज्य का दुर्लभ अधिकार तुच्छ समझ कर त्याग दिया?'

'हां, राजन्!'

'और इन्हीं को पाकर आप भिक्षा-वृत्ति में सुखी हैं, पैदल यात्रा के कष्टों को सहन करते हैं, तपस्वी जीवन से शरीर को कष्ट देने पर भी प्रफुल्लित हैं।'

'हां, इन्हीं को पाकर।'

'हे स्वामी! वे महाविभूतियां मुझे दीजिए, मैं आप के शरणागत हूं।'

भिक्षुराज ने एक पद आगे बढ़कर कहा—'राजन्, सावधान होकर बैठो।'

राजा घुटनों के बल धरती पर बैठ गया। उस का मस्तक युवक भिक्षुराज के चरणों में झुक रहा था।

महाकुमार ने कमंडलु से पवित्र जल निकालकर राजा के स्वर्ण-खचित राजमुकुट पर छिड़क दिया, और कहा—

'कहो—'

'बुद्धं शरणं गच्छामि।'

'संघं शरणं गच्छामि।'

'सत्यं शरणं गच्छामि।'

राजा ने अनुकरण किया। तब भिक्षुराज ने अपने शुभ हस्त राजा के मस्तक पर रख कर कहा—' राजन्, उठो। तुम्हारा कल्याण हो गया। तुम प्रियदर्शी सम्राट् के प्यारे सद्धर्मी और तथागत के अनुगामी हुए।'

इस के बाद राजा की ओर देखे बिना ही भिक्षु-श्रेष्ठ अपने निवास को लौट गए।

(५)

उन के लिए राजमहल में एक विशाल भवन निर्माण कराया। और उस में श्वेत चंदोवा ताना गया था, जो पुष्पों से सजाया गया था। महाकुमार ने वहां बैठकर अपने साथियों के साथ भोजन किया, और तीन बार राजपरिवार को उपदेश दिया। उसी समय तिष्य के लघु भ्राता की पत्नी अनुला ने अपनी पांचसौ सखियों के साथ सद्धर्म ग्रहण किया।

सन्ध्या का समय हुआ, और भिक्षु-मंडली पर्वत की ओर जाने को उद्यत हुई। महाराज तिष्य ने आकर विनीत भाव से कहा—'पर्वत बहुत दूर है, और अति विलम्ब हो गया है, सूर्य छिप रहा है, अतः आप कृपा कर नंदन-उपवन में ही विश्राम करें।'

महाकुमार ने उत्तर दिया—'राजन्, नगर में और उसके निकट वास करना भिक्षु का धर्म नहीं।'

'तब प्रभु महामेघ-उपवन में विश्राम करें; वह राजधानी से न बहुत दूर है, न निकट ही।'

महाकुमार सहमत हुए, और महामेघ-उपवन में उन का आसन जमा।

दूसरे दिन तिष्य पुष्प-भेंट लेकर सेवा में उपस्थित हुआ महाकुमार ने स्थान के प्रति संतोष प्रकट किया। तिष्य ने प्रार्थना की कि वह उपवन भिक्षु-संघ की भेंट समझा जाए, और वहां विहार की स्थापना की जाए।

भिक्षुराज ने महाराज तिष्य की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। महामेघ-अनुष्ठान के तेरहवें दिन, आषाढ़-शुक्ल त्रयोदशी को, महाकुमार महेंद्र, राजा का फिर आतिथ्य ग्रहण करके, अनुराधापुर के पूर्वी द्वार से मिस्सक-पर्वत को लौट चले। महाराज ने यह सुना, तो वह राजकुमारी अनुला और सिंहालियों को साथ लेकर, रथ पर बैठकर, दौड़ा।

महेंद्र और भिक्षु तालाब में स्नान कर के पर्वत पर चढ़ने

को उद्यत खड़े थे। राजवर्ग को देखकर महाकुमार ने कहा—'राजन्, इस असह्य ग्रीष्म में तुम ने क्यों कष्ट किया ?'

'स्वामिन्, आप का वियोग हमें सह्य नहीं।'

'अधीर होने का काम नहीं। हम लोग वर्षा-ऋतु में वर्ष-अनुष्ठान के लिए यहां पर्वत पर आए हैं, और वर्षा-ऋतु यहीं पर व्यतीत करेंगे।'

महाराज तिष्य ने तत्काल कर्मचारियों को लगाकर ६८ गुफाएं वहां निर्माण करा दीं, और भिक्षुगण वहां चतुर्मास व्यतीत करने को ठहर गए। एक दिन तिष्य ने कहा—

'स्वामिन्, यह बड़े खेद का विषय है कि लंका में भगवान् बुद्ध का ऐसा कोई स्मारक नहीं, जहां उस की भेंट-पूजा चढ़ा कर विधिवत् अर्चना की जाए। यदि प्रभु स्मारक के योग्य कोई वस्तु प्राप्त कर सकें, तो उस की प्रतिष्ठा कर के उस पर स्तूप बनवा दिया जाए।'

महाकुमार महेंद्र ने विचार कर 'सुमन' भिक्षु को लंका-नरेश का यह संदेश लेकर सम्राट् प्रियदर्शी अशोक की सेवा में भारतवर्ष भेज दिया।

उस ने सम्राट् से महाकुमार और महाकुमारी के पवित्र जीवन का उल्लेख कर के कहा—'चक्रवर्ती की जय हो! महाकुमार और लंका-नरेश की इच्छा है कि लंका में तथा-गत के शरीर का कुछ अंश प्रतिष्ठित किया जाए, और उस की पूजा होती रहे।'

अशोक ने महाबुद्ध के गले की एक अस्थि का टुकड़ा उसे देकर विदा किया।

महाकुमार उस अस्थि-खंड को लेकर फिर महामेघ-उपवन में आए। वहां राजा अपने राजकीय हाथी पर छत्र लगाए स्वागत के लिए उपस्थित था।

उस ने अस्थि-खंड को सिर पर धारण किया, और बड़ी धूम-धाम से उस की स्थापना की। उस अवसर पर तीस सहस्र सिंहालियों ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया।

(६)

द्वीप भर में बौद्ध-धर्म का साम्राज्य था। सम्राट् ने अपने पवित्र पुत्र और पुत्री को तीन सौ पिटारे भरकर धर्म-ग्रन्थ उपहार भेजे थे। उन्हें वहां के निवासियों को उस ने अध्ययन कराया। एक बच्चा भी अब बौद्धों की विभूति से वंचित न था।

भिक्षुराज महाकुमार महेंद्र कठिन परिश्रम और तपश्चर्या करने से बहुत दुर्बल हो गए थे। वृद्धावस्था ने उन के शरीर को जीर्ण कर दिया था। महाराजकुमारी ने द्वीप की स्त्रियों को पवित्र धर्म में रंग दिया था। दोनों पवित्र आत्माएं अपने जीवनों को धैर्य से गला चुके थे। उन्हें वहां रहते युग बीत गया था। एक दिन उन्होंने कुमारी से कहा—

'आर्या संघमित्रा! मेरा शरीर अब बहुत जर्जर हो गया है, अब इस शरीर का अंत होगा। यह तो शरीर का धर्म है।

तुम प्राण रहते अपना कर्तव्य पूर्ण किए जाना।'

उस के मुख पर संतोष के हास्य की रेखा थी।

उसी रात्रि को एक अनुचर ने, जो कुमार के निकट ही सोता था, देखा कि उन का आसन खाली है। वह तत्काल उठकर चिल्लाने लगा—'हे प्रभु! हे प्रभु!' समुद्र की लहरें किनारों पर टकरा कर उस पार के मित्रों की आनंद-ध्वनि ला रही थीं। अनुचर ने देखा, महाकुमार भिक्षुराज बोधि-वृक्ष को आलिंगन किए पड़े हैं। उन के नेत्र मुद्रित हैं। अनुचर लपक कर चरणों में लोट गया। लोग जाग गए और वहीं को आ रहे थे। इस भीड़ को देखकर कुमार मुस्किराए, सब को आशीर्वाद देने को उन्होंने हाथ उठाया, पर वह दुर्बलता के कारण गिर गया। धीरे-धीरे उन का शरीर भी गिर गया। अनुचर ने उठाकर देखा, तो वह शरीर निर्जीव था। उस स्निग्ध चंद्रमा की चांदनी में, उस पवित्र बोधि-वृक्ष के नीचे वह त्यागी राजपुत्र, सत्सागरा पृथ्वी का एक-मात्र उत्तराधिकारी धरती पर निश्चिंत होकर अटूट सुख-नींद सो रहा था, और भक्तों में जो-जो सुनते थे, एकत्र होते जाते थे, और चार आंसू बहाते थे।

श्री राय कृष्णदास

आप काशी के रहने वाले हैं। इस समय आप की आयु ४६ वर्ष के लगभग है। आप का प्रिय विषय गद्य-काव्य है। "साधना" आप का पहला अमर ग्रन्थ है, जिस ने हिन्दी संसार को चकित कर दिया था। आप की कहानियों में भी काव्य का प्राधान्य रहता है, इसी लिए कहीं कहीं अस्वाभाविकता आ जाती है। प्रायः प्रेम और कला ही के विषय पर लिखते हैं। साधारण कथानक आप को पसन्द नहीं।

इस समय तक आप की कहानियों के दो छोटे छोटे संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

कला और कृत्रिमता

सम्राट् ने एक महल बनाने की आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व, सुख और सुखमा की सीमा।

देश-भर के बड़े-बड़े स्थपतियों का दिमाग़ उसी का नक्शा तैय्यार करने में भिड़ गया। नक्शा तैय्यार हुआ। उसे देखकर सम्राट् फड़क उठे; उन के गर्व को बड़ी मधुर गुदगुदी हुई। जिस का नक्शा पसंद हुआ था, उस के भाग्य खुल गए।

जिस समय उस महल की तैय्यारी का चित्र उन के मनो-नेत्र के सामने खड़ा हुआ, संसार के बड़े-से-बड़े प्रासाद-निर्माता नरेन्द्र आर्य्यावर्त्त, मिस्र, मय, बाबुल, चीन, पारस, ग्रीस, रोम आदि के,—तुच्छ मालूम हुए क्योंकि उन्होंने भव्यता और चारुता का जो प्रदर्शन किया था वह इस के आगे कुछ भी न था।

जिन मदों से सम्राट् मत्त हो रहे थे आज उन में एक और बढ़ा।

जिस भाग्यवान स्थपति की कल्पना ने इस भवन की

उद्भावना की थी उस के तो पैर ही जमीन पर न पड़ते थे। सातवें आसमान की उड़ान में उसे अपनी इस कृति के सिवा अन्यत्र दीख ही न पड़ती थी।

अस्तु।

संसार-भर की एक-से-एक मूल्यवान और दुर्लभ सामग्रियां एकत्र की गईं और वह प्रासाद बनने लगा। लाखों वास्तुकार, लाखों शिल्पी काम करने लगे।

नीहार भी उन्हीं में से था। संगतराशों की एक टोली का वह मुखिया था और उस के काम से उस के प्रधान सदैव संतुष्ट रहते थे। किन्तु वह अपने काम से संतुष्ट न था। उस में कल्पना थी—जो नक्शे उसे पत्थरों में तराशने को दिये जाते उन में हेर-फेर और घटाव-बढ़ाव की जो भी आवश्यकता सुरुचि को अभीष्ट होती, उसे तुरन्त भास जाती। परन्तु उस का कर्त्तव्य था केवल आज्ञापालन, अतः यह आज्ञापालन वह अपनी उमंग को कुचल-कुचल कर किया करता। पत्थर गढ़ते समय टांकी से उड़ा हुआ छींटा उस की आंखों में उतना न कसकता जितना उन नक्शों की कुघरता।

इतना ही नहीं, उस सारे महल की कल्पना ही उसे वास्तु के मूल-पुरुष, मय असुर, की ठठरी सी मालूम होती और उस स्थान पर पहुंचते ही उसे ऊजड़, भयावनेपन और बदनुमापन की ऐसी प्रतीति होती कि वह सिहर उठता, मन

में कहता—अच्छा ढड्ढा खड़ा किया जा रहा है ! क्या ढकोसला है !

और, उस की कल्पना एक दूसरा ही कोमल स्वप्न देखने लगती—

धीरे-धीरे यह चर्चा महाराज के कानों तक पहुंची कि नीहार अपने घर में एक महल बना रहा है—एक छोटा-सा नमूना। लोग राजप्रासाद के और इस के सौन्दर्य की तुलना करने लगे हैं कि वह इसके आगे कुछ भी नहीं; इसकी चारुता और कौशल अपूर्व हैं। नगर भर में इस की धूम थी।

अधीश्वर की भावना को चोट लगी। जिस मूर्ति की वह उपासना कर रहे थे उस पर जैसे किसी ने आघात किया हो। परन्तु वे ज्वलन प्रकृति के न थे, उन के हृदय में उसे देखने की इच्छा जाग उठी।

उन के हृदय में कला का जो राजस प्रेम था, वह उन्हें प्रेरित करने लगा। क्योंकि, उन से कहा गया था कि जिस समय वह काम करने लगता है, मग्न हो जाता है, कहां क्या हो रहा है, इस की खबर ही नहीं रह जाती। उस के चारों ओर देखने वालों की भीड़ लगी रहती है। किंतु, इस से क्या ! वह ज्यों का त्यों अपने विनोद में लगा रहता है। वे इस तल्लीनता को देखने के लिए उत्सुक हो उठे, अपने को रोक न सके।

एक दिन वे चुपचाप नीहार के यहां पहुंचे। दर्शक-समू

सम्राट् को देख कर खड़बड़ाया किन्तु उन के एक इंगित से सब जहां के तहां शान्त हो गए। चुपचाप सम्मान-पूर्वक उन्हें रास्ता दे दिया।

कलावन्त की उस तन्मयता, उस लगन, उस समाधि के देखने में मनुष्य स्वयं तमाशा बन जाता था। महाराज भी वैसे ही रह गए। जिस प्रकार अचेतन यंत्र, चेतन बन कर काम करने लगता है उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यंत्र होकर, अपनी धुन में लगा हुआ था। उस की कामना के प्राबल्य ने चेतन-अचेतन का भेद मिटा दिया था—तभी न वह पत्थर में जान डाल सकता था।

सम्राट् का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब पंखड़ियां अलग-अलग होकर उड़-पुड़ जाती हैं। जिस प्रकार शुक्ति में रजत का भ्रम उसी समय तक रहता है जब तक वास्तव रजत सामने नहीं आ जाता, उसी प्रकार अपने प्रासाद के सम्बन्ध में वे जिस कला-आभास से अभिभूत हो उठे थे, यह प्रकृत कला दीख पड़ते ही वह जाने कहां विलीन हो गया।

विजृम्भा की मूर्ति बने सम्राट् उसे देख रहे थे कि नीहार क्षण के लिए किसी कारण अपनी उस निद्रा से जागृत हुआ। उस की दृष्टि उन पर पड़ी—

उस समय उस के हृदय में बड़ा हर्ष हुआ। उस ने अपने इस निरुद्देश निर्माण का फल-सा पा लिया और वह सम्राट् के चरणों में भक्ति भाव से नत हुआ।

सम्राट् ने उसे उठा कर अपने उन्मुक्त हृदय से लगा लिया। कह उठे—'वाह! यहां तो पत्थर एक स्निग्ध-हृदय से एकतानता करके मोम बन गया है। नीहार! तू धन्य है। निःसन्देह किसी शाप-वश पृथ्वी पर आया है, तभी तो यह वैजयन्त प्रासाद यहां निर्म्मित हुआ है।'

'नरेन्द्र! आप ही यह रहस्य जानें'—विनीत शिल्पी ने अपनी लघुता व्यक्त कर के कहा—

'तो अब इस का निर्म्माण इस के रूप-सरूप के अनुसार होने दे—वह राज-भवन न बन कर यही बनेगा।'

'जो आज्ञा'—कह कर वह पुनः नत हुआ।

महाराज ने महास्थपति को बुलाने की आज्ञा दी।

हरकारे दौड़े और बात कहते वह महाराज के सामने उपस्थित किया गया। नीहार की कृति पर उस की निगाह पड़ी, साथ ही मुंह बिचक गया। महाराज ने उस ओर इशारा कर के कहा—'देखो!'

महास्थपति नम्र हो कर देखने लगा, किन्तु चेहरे पर की शिकन ज्यों की त्यों कायम रही।

समाट् ने पूछा—'क्यों, कैसा है?'

'कैसे कहूं'

'क्यों, संकोच क्या है?'

'यह देव को पसन्द आ चुका है।'

'तो उस से क्या हुआ'—सम्राट् ने साहस बंधाते हुए

कहा—' तुम अपनी स्पष्ट राय दो ।'

' एक खिलवाड़ है !'—नाक सिकोड़ कर उस ने कहा—

' तभी तो इतना आकर्षक है !'

' किन्तु निरर्थक तो है, स्वामी !'

' नहीं ! रहस्य मय कह सकते हो । निरर्थक तो कोई वस्तु नहीं । जिसे हम नहीं समझ पाते, उसे निरर्थक कह बैठते हैं ।'

' हां भगवन् ! किन्तु यदि वही रहस्य दुरूह हो जाता है तो व्यर्थ अवश्य हो जाता है—चाहे निरर्थक न हो ।'

' किन्तु, यहां तो उसका गूढ़ हो जाना आवश्यक था, वहीं तो कला है !'

' सेवक की समझ में यह न आया !'

' सुनो ! केवल सौन्दर्य्य की अभिव्यक्ति तो इस के निर्म्माता का उद्देश्य हुई नहीं । उसे तो एक वास्तु—निवास-स्थान की रचना करनी थी, किसी सम्राट् की पद-मर्यादा के अनुरूप । अतएव ऐसे भवन के लिए जितने अलंकार की अपेक्षा थी उस की इस में तनिक भी कसर नहीं । किन्तु वहीं तक बस । उस से एक रेखा भी अधिक नहीं क्योंकि घर तो घर, चाहे कुटी हो वा राजमहल, उस का प्रधान उपयोग तो यही है न कि उस में जीवन बसेरा ले—पत्ती अपना नीड भी तो इसी सिद्धान्त पर बनाता है, वह मृग-मरीचिका की तड़क-भड़क वाला पिंजरा नहीं बनाता जो

जीवन को बंदी कर के ग्रस लेता है। तुम्हारे और उस के कौशल में भी यही अन्तर है। केवल बाहरी आकर्षण होना ही कला नहीं। उस का रूप प्रसंग के अनुकूल होना ही उस की चारुता है।'

'नाथ, अपने नन्हेपन के कारण यह ऐसा जान पड़ता है।' नम्रता दिखाते हुए उस ने सीख दी।

'अजी, यह न कहो! विशालता तो ऐसी वस्तु है कि वह बहुतेरे दोषों को दाब लेती है। यही नमूना जब पूरे पैमाने पर बनेगा तो और खिल उठेगा। तो भी'—उन्होंने हंसकर कहा—'यदि तुम्हारे जान, यह अपने नन्हेपन के कारण ही इतना रुचिर है तो मंगाओ अपना महल वाला, वह नन्हा नमूना। दोनों को सामने रखकर तुलना हो जाय!'

महास्थपति से इस का कोई उत्तर न बना, क्योंकि अब वह जान गया था कि महाराज में जो निगाहदारी ऊंघ रही थी, उसे कला की इस प्रकृत वस्तु ने पूर्णतः जगा दिया है, अतः वे मेरी आलोचना के पोलेपन को भली-भांति समझ रहे हैं। इस कथोपकथन के बीच-बीच में वह महाराज की निगाह बचाकर लुब्ध दृष्टि से नीहार को भी देखता जाता था। किन्तु अब उस की वह दृष्टि नीहार पर नहीं पड़ रही थी—अब नत होकर पृथ्वी से करुणा की याचना कर रही थी।

यह दशा देखकर नीहार से न रहा गया—महाराज से उस ने कुछ निवेदन करने की आज्ञा ली।

उस ने बड़ी शिष्टता से कहा—' देव ! वे आचार्य हैं, मैं उन की चरण-धूलि के समान भी नहीं। उन की और मेरी कृति की तुलना न्याय नहीं है—मल्लयुद्ध में बराबर के जोड़ छोड़े जाते हैं।'

' परन्तु यह तो प्रतिभा की तुलना है जो अपने विकास से छोटे को भी बड़े के बराबर बैठा देती है।' महाराज ने गम्भीर होकर कहा। और, महास्थपति को देखने लगे।

'किन्तु'—नीहार दृढ़ता से बोला—' इस प्रसंग में तो एक और सूक्ष्म विचार है, तथा वही इस का मूल कारण है। यदि श्रीमान् उसे सुन लेंगे तो यही आदेश देंगे कि इन दोनों रचनाओं की तुलना उचित नहीं।'

' वह क्या ?'—महाराज ने उत्सुकता से पूछा।

' यही कि '—कलावन्त के मुंह पर मुसकान थी, किन्तु इस प्रसंग से नहीं, वही जो उस पर सहज खेला करती थी—' यह कल्पना ' स्वान्तस्सुखाय ' उपजी है, और वह ' हुकुम पाइ ' उहजाई गई है। देव कोई फ़र्माइश मुझे भी दें तो मेरी कलई आप ही खुल जाय !'

' बस, बस, अपने महास्थपति को तो तुम ने परास्त किया ही था, अपने महाराज को भी हरा दिया !' प्रसन्नता से गद्गद सम्राट् ने कहा।

उस के लिए, उन की आंखों में स्नेह झलक रहा था और महास्थपति की दृष्टि में आसीस—केवल आसीस ही नहीं वन्दना भी उमड़ी पड़ती थी।

बाबू जयशंकर प्रसाद

आप का जन्म सन् १८६० ई० में काशी के एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज वैश्य घराने में हुआ। आप के पिता जी अच्छे सम्पन्न व्यक्ति थे, इस लिए आप की शिक्षा घर पर हुई। हिन्दी संसार में आप सब से पहले कवि के रूप में प्रकट हुए। इस के पश्चात् आप ने कहानियां और नाटक भी लिखना शुरू कर दिया। परन्तु उच्चकोटि के नाटक लिखने में बाबू जी को सफलता नहीं हुई। इन की भाषा बड़ी जटिल और अप्रसिद्ध होती है। उस में लालित्य की मात्रा इतनी कम होती है कि उसे पढ़ने के लिए मन को मजबूर करना पड़ता है। उन की कहानियों का सम्भाषण विभाग भी अस्वाभाविक होता है। परन्तु फिर भी उन्हें पसन्द करने वालों की कमी नहीं। बाबू जी की कहानियों के भाव बड़े सुमधुर और सुन्दर होते हैं और यही भाव उन की कला की जान हैं। इस समय तक आप के तीन गल्प-संग्रह और छै नाटक प्रकाशित हो चुके हैं।

ममता

(१)

रोहतास-दुर्ग के एक प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गम्भीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उस का यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आंधी, आंखों में पानी की बरसात के लिए, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उस के लिए कुछ अभाव होना असम्भव था, परन्तु वह विधवा थी,—हिन्दू-विधवा संसार में सब से तुच्छ निराश्रय प्राणी है तब उस की विडम्बना का कहां अन्त था?

चूड़ामणि ने चुप चाप उस के प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उस के कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिए क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गए। ऐसा प्रायः

होता, पर आज मन्त्री के मन में बड़ी दुश्चिन्ता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर रात बीत जाने पर फिर वे ममता के पास आए। उस समय उन के पीछे दस सेवक चांदी के बड़े थालों में कुछ लिए हुए खड़े थे, कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूम कर देखा। मंत्री ने सब थालों के रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गए।

ममता ने पूछा—'यह क्या है पिता जी ?'

'तेरे लिए बेटी ! उपहार है।'—कह कर चूड़ामणि ने उस का आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली सन्ध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

'इतना स्वर्ण ! यह कहां से आया ?'

'चुप रहो ममता ! यह तुम्हारे लिए है।'

'तो क्या आप ने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिता जी ! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिए। पिता जी ! हम लोग ब्राह्मण हैं। इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?

'इस पतनोन्मुख प्राचीन सामन्त-वंश का अन्त समीप है, बेटी ! किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है। उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिए बेटी !'

'हे भगवान ! तब के लिए ! विपद के लिए ! इतना आयोजन ! परम पिता की इच्छा विरुद्ध इतना साहस ! पिता जी ! क्या भीख न मिलेगी ? क्या कोई हिन्दू भूपृष्ठ पर न बचा

रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके ? यह असम्भव है। फेर दीजिए पिता जी! मैं कांप रही हूं—इस की चमक आंखों को अन्धा बना रही है !'

'मूर्ख है'—कहकर चूड़ामणि चले गए।

दूसरे दिन जब डोलियों का तांता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण मन्त्री चूड़ामणि का हृदय धकधक करने लगा। वह अपने को रोक न सका। उस ने जाकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा—

'यह महिलाओं का अपमान करना है।'

बात बढ़ गई। तलवारें खिचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजारानी, कोष, सब छली शेरशाह के हाथ पड़े, निकल गई ममता। डोली में भरे हुए पठान-सैनिक दुर्ग-भर में फैल गए, पर ममता न मिली।

(२)

काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्त्ति का खंडहर था। भग्न चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति ग्रीष्म रजनी की चन्द्रिका में अपने आप को शीतल कर रही थी

जहां पञ्चवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिए पहले मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया

में एक झोंपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते...'

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मन्द प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उस ने कपाट बंद करना चाहा। परन्तु उस व्यक्ति ने कहा—'माता! मुझे आश्रय चाहिए।'

'तुम कौन हो?'—स्त्री ने पूछा।

'मैं मुग़ल हूं। चौसा-युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूं। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूं।'

'क्या शेरशाह से!'—स्त्री ने अपने ओठ काट लिए।

'हां माता!'

'परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो? वही भीषण रक्त की प्यास वही निष्ठुर प्रतिविम्ब, तुम्हारे मुख पर भी है! सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो!

"गला सूख रहा है, साथी छूट गए हैं, अश्व गिर पड़ा हैं—इतना थका हुआ हूं इतना!'—कहते-कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उस के सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहां से आई! उस ने जल दिया, मुग़ल के प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी—'सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करनेवाले आततायी!' घृणा से उस का मन विरक्त हो गया।

स्वस्थ होकर मुग़ल ने कहा—'माता ! तो फिर मैं चला जाऊं ?'

स्त्री विचार कर रही थी—'मैं ब्राह्मणी हूं, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना—का पालन करना चाहिए। परन्तु यहां······नहीं-नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परन्तु यह दया तो नहीं······कर्त्तव्य करना है। तब ?'

मुग़ल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—'क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो।'

'छल ! नहीं, तब नहीं स्त्री ! जाता हूं, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा ? जाता हूं। भाग्य का खेल है।'

ममता ने मन में कहा—'यहां कौन दुर्ग है ! यही झोपड़ी न; जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य पालन करना पड़ेगा।'—वह बाहर चली आई और मुग़ल से बोली—'जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूं। मैं ब्राह्मण-कुमारी हूं; सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूं ?' मुग़ल ने चन्द्रमा के मन्द प्रकाश में वह महिमामय मुखमण्डल देखा; उस ने मन-ही-मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर, थके पथिक ने झोपड़ी में विश्राम किया।

प्रभात में खण्डहर की सन्धि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रान्त में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोपड़ी से निकल कर उस पथिक ने कहा—'मिरज़ा ! मैं यहां हूं।'

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रान्त गूंज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—'वह स्त्री कहां है ? उसे खोज निकालो।' ममता छिपने के लिए अधिक सचेष्ट हुई। वह मृग-दाव में चली गई। दिन-भर उस में से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है--'मिरज़ा ! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उस का घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में वहां विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।'—इसके बाद वे चले गए।

चौसा के मुग़ल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गए। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उस का जीर्ण कंकाल खांसी से गूंज रहा था। ममता की सेवा के लिए गांव की दो तीन स्त्रियां उसे घेरकर बैठी थीं; क्योंकि वह आ-जीवन सब के सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—'मिरज़ा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिए।

वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किस से पूछूं कि एक दिन शाहंशाह हुमायूं किस छप्पर के नीचे बैठे थे? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई।'

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उस ने पास की स्त्री से कहा—'उसे बुलाओ।'

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुक कर कहा—'मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था, या साधारण मुग़ल; पर एक दिन इसी झोपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था, मैं आ-जीवन अपनी झोपड़ी खोदवाने के डर से भीतर ही थी! भगवान ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूं। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल—मैं अपने चिर-विश्राम-गृह में जाती हूं!'

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण-पक्षी अनन्त में उड़ गए।

वहां एक अष्टकोण मंदिर बना, और उस पर शिलालेख लगाया गया—

'सातों देश के नरेश हुमायूं ने एक दिन यहां विश्राम किया था। उन के पुत्र अकबर ने उन की स्मृति में यह गगन-चुम्बी मन्दिर बनाया था।'

पर उस में ममता का कहीं नाम नहीं।

पं० विनोदशंकर व्यास ।

व्यास जी का जन्म सन् १९०१ ई० में हुआ । पठन-पाठन में आप को रुचि न थी । ऐंट्रेंस भी पास न किया । माता-पिता समझते थे, बेटा आवारा हो गया । मगर व्यास जी को विधाता ने साहित्य-सेवा के लिए बनाया था । आप की कहानियां बड़ी हृदय-स्पर्शी होती हैं, उन्हें पढ़कर दिल पर चोट लगती है । उन में किसी किसी स्थान पर तो नाटक का सा मज़ा आ जाता है । व्यास जी की कहानियां प्रायः भाव-प्रधान होती हैं । इस समय तक आप की मौलिक कहानियों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं ।

शक्तिसिंह

(१)

'मान जाओ ! तुम्हारे उपयुक्त यह कार्य न होगा।'

'चुप रहो—तुम क्या जानो।'

'इस में वीरता नहीं है, अन्याय है।'

'बहुत दिनों की धधकती हुई ज्वाला आज शान्त होगी।' शक्तिसिंह ने एक लम्बी सांस फेंकते हुए, अपनी स्त्री की ओर देखा।

"..."

"..."

'कलङ्क लगेगा ! अपराध होगा !!'

'अपमान का बदला लूंगा। प्रताप के गर्व को मिट्टी में मिला दूंगा। आज मैं विजयी होऊंगा।' बड़ी दृढ़ता से कह कर शक्तिसिंह ने शिविर के द्वार पर देखा—मुग़ल-सेना के चतुर सिपाही अपने-अपने घोड़ों की परीक्षा ले रहे थे। बड़े साहस से सब एक दूसरे में उत्साह भर रहे थे।

'निश्चय महाराणा की हार होगी। बाईस हज़ार राज-पूतों को दिन-भर में मुग़ल-सेना काटकर सूखे डंठल की भांति गिरा देगी।' साहस से शक्तिसिंह ने कहा।

"भाई पर क्रोध करके, देश-द्रोही बनोगे..............." कहते-कहते उस राजपूत-बाला की आंखों से चिन्गारियां निकलने लगीं।

शक्तिसिंह अपराधी की नाईं विचार करने लगा। जलन का उन्माद उन की नस-नस में दौड़ रहा था। प्रताप के प्राण लेकर ही छोड़ेगा, ऐसी प्रतिज्ञा थी। नादान दिल किसी तरह न मानेगा। उसे कौन समझा सकता था?

रण-भेरी बजी।

कोलाहल मचा। मुग़ल-सैनिक मैदान में एकत्रित होने लगे। पत्ता-पत्ता खड़खड़ा उठा। बिजली की भांति तलवारें चमक रही थीं। उस दिन सब में उत्साह था। युद्ध के लिए भुजाएं फड़कने लगीं।

शक्तिसिंह ने घोड़े की लगाम पकड़ कर कहा—आज अन्तिम निर्णय है, मरूंगा या मारकर ही लौटूंगा!

शिविर के द्वार पर खड़ी मोहिनी अपने भविष्य की कल्पना कर रही थी। उस ने बड़ी गम्भीरता से कहा—ईश्वर सद्बुद्धि दे, यही प्रार्थना है।

(२)

एक महत्त्वपूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी

थी। प्रकृति कांप उठी। घोड़ों और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसाती हवा के थपेड़ों से जङ्गल के वृक्ष रण-नाद करते हुए झूम रहे थे। पशु-पक्षी भय से त्रस्त होकर आश्रय ढूंढने लगे। बड़ा विकट समय था।

उस भयानक मैदान में राजपूत-सेना मोर्चा बन्दी कर रही थी। हल्दीघाटी की ऊंची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाए उन्मत्त के समान खड़े थे।

'महाराणा की जय!'—शैलमाला से टकराती हुई ध्वनि मुग़ल-सेनाओं में घुस पड़ी। युद्ध आरम्भ हुआ। भैरवी रणचण्डी ने प्रलय का राग छेड़ा। मनुष्य हिंस्र जन्तुओं की भांति अपने-अपने लक्ष्य पर टूट पड़े। सैनिकों के निडर घोड़े हवा में उड़ने लगे। तलवारें बजने लगीं। पर्वतों के शिखरों पर से विषैले बाण मुग़ल-सेना पर बरसने लगे। सूखी हल्दी-घाटी में रक्त की धारा बहने लगी।

महाराणा आगे बढ़े। शत्रु-सेना का व्यूह टूटकर तितर-बितर हो गया। दोनों ओर के सैनिक कट-कटकर गिरने लगे। देखते-देखते लाशों के ढेर लग गए।

भूरे बादलों को लेकर आंधी आई। सलीम के सैनिकों को बचने का अवकाश मिला। मुग़लों की सेना में नया उत्साह भर गया। तोप के गोले उथल-पुथल करने लगे। धांय-धांय करती बन्दूक से निकली हुई गोलियां दौड़ रही थीं—ओह! जीवन कितना सस्ता हो गया था!

महाराणा शत्रु-सेना में सिंह की भांति उन्मत्त होकर घूम रहे थे। जान की बाज़ी लगी थी। सब तरफ से घिरे थे। हमला-पर-हमला हो रहा था। प्राण सङ्कट में पड़े थे। वचना कठिन था। सात वार घायल होने पर भी पैर उखड़े नहीं, मेवाड़ का सौभाग्य इतना दुर्बल नहीं था।

मानसिंह की कुमन्त्रणा सिद्ध होने वाली थी। ऐसे आपत्ति काल में वह वीर सरदार सेना सहित वहां कैसे आया? आश्चर्य से महाराणा ने उस की ओर देखा—वीर मन्ना जी ने उन के मस्तक से मेवाड़ के राज्य-चिह्नों को उतार कर स्वयं धारण कर लिया। राणा ने आश्चर्य और क्रोध से पूछा—'यह क्या?'

'आज मरने के समय एक वार राज-चिह्न धारण करने की बड़ी इच्छा हुई है।'—हंसकर मन्ना जी ने कहा। राणा ने उस उन्मादपूर्ण हंसी में अटल धैर्य देखा।

मुग़लों की सेना में से शक्तिसिंह इस चातुरी को समझ गया। उस ने देखा—घायल प्रताप रण-क्षेत्र से जीते-जागते चले जा रहे हैं! और, वीर मन्ना जी को प्रताप समझ कर मुग़ल उधर ही टूट पड़े हैं।

उसी समय दो मुग़ल सरदारों के साथ, महाराणा के पीछे पीछे, शक्तिसिंह ने अपना घोड़ा छोड़ दिया।

(३)

खेल समाप्त हो रहा था। स्वतन्त्रता की बलि वेदी पर

सन्नाटा छा गया था। जन्मभूमि के चरणों पर मर मिटने वाले वीरों ने अपने को उत्सर्ग कर दिया था। बाईस हज़ार राजपूत वीरों में से केवल आठ हज़ार बच गए थे।

विद्रोही शक्तिसिंह चुपचाप सोचता हुआ अपने घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था। मार्ग में कटे शव पड़े थे—कहीं भुजाएं शरीर से अलग पड़ी थीं, कहीं धड़ कटा हुआ था, कहीं खून से लथपथ मस्तक भूमि पर गिरा हुआ था। कैसा परिवर्त्तन है! दो घड़ियों में हंसते-बोलते और लड़ते हुए जीवित पुतले कहां चले गए? ऐसे निरीह जीवन पर इतना गर्व!

शक्तिसिंह की आंखें ग्लानि से छलछला पड़ीं—

'ये सब भी राजपूत थे, मेरी ही जाति के खून थे। हाय रे मैं! मेरा प्रतिशोध पूरा हुआ—क्या सचमुच पूरा हुआ? नहीं, यह प्रतिशोध नहीं था, अधम शक्त! यह तेरे चिरकलङ्क के लिए पैशाचिक आयोजन था। तू भूला, पागल! प्रताप से बदला लेना चाहता था—उस प्रताप से जो अपनी स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्म-भूमि की मर्यादा बचाने चला था! वही जन्म-भूमि जिस के अन्न जल से तेरी नसें फूली-फली हैं! अब भी तो मां की मर्यादा का ध्यान कर!'

सहसा धांय-धांय-गोलियों का शब्द हुआ। चौंक कर शक्तिसिंह ने देखा—दोनों मुग़ल-सरदार प्रताप का पीछा कर रहे थे। महाराणा का घोड़ा लस्त-पस्त होकर झूमता हुआ

गिर रहा है। अब भी समय है। शक्तिसिंह के हृदय में भाई की ममता उमड़ पड़ी।

एक आवाज़ हुई—रुको!

दूसरे क्षण शक्तिसिंह की बन्दूक छूटी, पलक मारते दोनों मुग़ल-सरदार जहां के तहां ढेर हो गए। महाराणा ने क्रोध से आंख चढ़ाकर देखा। वे आंखें पूछ रही थीं—क्या मेरे प्राण पाकर तुम निहाल हो जाओगे? इतने राजपूतों के खून से तुम्हारी हिंसा-तृप्ति नहीं हुई?

किन्तु यह क्या, शक्तिसिंह तो महाराणा के सामने नत मस्तक खड़ा था। वह बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहा था। शक्तिसिंह ने कहा—नाथ! सेवक अज्ञान में भूल गया था, आज्ञा हो तो इन चरणों पर अपना शीश चढ़ा कर पद-प्रक्षालन कर लूं, प्रायश्चित्त कर लूं!

राणा ने अपनी दोनों बाहें फैला दीं। दोनों के गले आपस में मिल गए, दोनों की आंखें स्नेह की वर्षा करने लगीं। दोनों के हृदय गद्गद् हो गए।

इस शुभ मुहूर्त्त पर पहाड़ी वृक्षों ने पुष्प-वर्षा की, नदी की कल-कल धाराओं ने वन्दना की।

प्रताप ने उन डबडबाई हुई आंखों से ही देखा—उन का चिर-सहचर प्यारा 'चेतक' दम तोड़ रहा है। सामने ही शक्तिसिंह का घोड़ा खड़ा था।

शक्तिसिंह ने कहा—भैया ! अब आप विलम्ब न करें, घोड़ा तैयार है।

राणा, शक्तिसिंह के घोड़े पर सवार होकर, उस दुर्गम मार्ग को पार करते हुए निकल गए।

(४)

श्रावण का महीना था।

दिन-भर की मार-काट के पश्चात्, रात्रि बड़ी सूनसान हो गई थी। शिविर में से महिलाओं के रोदन की करुण ध्वनि हृदय को हिला देती थी। हज़ारों सुहागिनों के सुहाग उजड़ गए थे। उन्हें कोई ढाढ़स बंधाने वाला न था, था तो केवल हाहाकार, चीत्कार, कष्टों का अनन्त पारावार !

शक्तिसिंह अभी तक अपने शिविर में नहीं लौटा था। उस की पत्नी भी प्रतीक्षा में विकल थी। उस के हृदय में जीवन की आशा-निराशा क्षण-क्षण उठती-गिरती थी।

अंधेरी रात में काले बादल आकाश में छा गए थे। एकाएक उस शिविर में शक्तिसिंह ने प्रवेश किया। पत्नी ने कौतूहल से देखा, उस के कपड़े खून से तर थे।

'प्रिये !'

'नाथ !'

'तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई—मैं प्रताप के सामने परास्त हो गया !'

श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह

आप प्रयाग के निवासी हैं। आयु २५ वर्ष के लगभग होगी। पहले लीडर के सम्पादक विभाग में काम करते थे, पर अब उस से अलग होकर स्वतन्त्र-रूप से साहित्य-सेवा कर रहे हैं। आप की भाषा बड़ी लचीली होती है, पढ़ने में मज़ा आता है। पग पग पर अलंकार और उपमाएं बखेरते जाते हैं, जैसे कोई अपने पीछे फूल बखेरता जाता हो। आप सामाजिक दुर्बलताओं पर ही अपनी कहानियों की नींव रखते हैं।

आप का एक उपन्यास प्रकाशित हो चुका है। गल्प-संग्रह अभी तक कोई नहीं निकला।

आदर्श

(१)

नाई के हथियारों में छुरे का जो स्थान है, समाज-सुधारक के अस्त्रों में उस की ज़बान का वही स्थान है! सुधारक में चाहे और कोई गुण हों या न हों, वाक्-शक्ति अत्यधिक होनी चाहिए। बाबू चोखेलाल इस लोक-प्रिय सिद्धान्त से भली-भांति परिचित थे। बाबू साहब के जीवन का अन्तिम ध्येय समाज-सुधार ही था। इसी लिए दफ़्तर के काम से जो समय बचता उसे आप अपनी तर्क-शक्ति बढ़ाने में ही लगाते थे। मित्र-मंडली में आप की ज़बान खुलते ही दूसरों की बन्द हो जाती थी। अपनी बातों से आप अपने मित्रों को मुग्ध कर रखते थे। आप को इस बात का गर्व था कि वाद-विवाद में आप को कभी कोई पराजित नहीं कर सका। इस बात पर किसी को सन्देह न था, सन्देह करने का किसी को अधिकार भी न था। किन्तु बाह्य संसार का यह विजयी योद्धा घर के सीमा-प्रान्त में पैर रखते ही भीगी बिल्ली बन

जाता था। घर में तर्क-वितर्क से काम न चलता, यहां न उक्ति काम देती, न प्रमाण। पशु-बल का भी यहां गुज़र न था। विनय का जवाब व्यंग्य में मिलता, टेढ़ी नज़र का आंसुओं में। बाबू साहब पर व्यंग्य का तो कुछ असर न होता, क्योंकि निश्चय में दृढ़ता आती थी, किन्तु आंसू देखते ही आप घबड़ा उठते थे क्योंकि ये निर्दिष्ट पथ से विचलित करते थे।

सन्ध्या का समय था। बाबू साहब स्त्रियों को मेले-ठेलों में ले जाने की कुरीति पर बहस कर के अभी घर लौटे थे। आप की सहधर्मिणी रामप्यारी देवी रसोई-घर में तरकारी बना रहीं थीं, पति को देखते ही कलछुली चलाती हुई बोलीं—'कल दसहरा है।'

चोखेलाल ने अन्यमनस्कता से कहा—'सुनता तो हूं।'

'सुन तो तुम हमेशा लेते हो। हां, याद रखना नहीं जानते। एक कान से सुना दूसरे से निकाल दिया।'

बाबू साहब समझ गए कि यह किस प्रसंग की भूमिका है। उन्होंने सतर्क होकर दृढ़ता से कहा—'तो क्या हर बात की माला जपता रहूं कि याद रहे?'

'माला तुम क्या जपोगे। भगवान् का नाम लेने के लिए तो जपते ही नहीं, यह तो मामूली बात है। अब तो धरम-करम दुनिया से उठ ही गया। अब क्या है?'

चोखेलाल को दम्पति-जीवन से केवल एक शिकायत थी,

और वह थी रामप्यारी की संकीर्णता । जिस विषय पर देवी जी के अपने स्वतन्त्र विचार थे, उस पर बाबू साहब को अपने निजी विचार रखना परेशानी में पड़ना था। स्त्री का दृष्टि-क्षेत्र विस्तीर्ण करने के लिए पतिदेव ने अक्सर प्रयत्न किए; परन्तु कभी सफल नहीं हुए। धर्म के विषय पर चोखेलाल रामप्यारी से आज तक किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सके थे, इसलिए यह प्रसंग छिड़ते ही उन के हृदय में रामप्यारी के प्रति अप्रसन्नता का भाव उठा था । अब रामप्यारी के व्यंग्य-वाक्यों ने अप्रसन्नता को क्रोध में परिणत कर दिया। चोखेलाल ने चिढ़कर कहा—मैं तुम से धर्म का सबक़ पढ़ने नहीं आया हूं।

आग में जल का एक छींटा पड़ा! रामप्यारी ने झमक कर कहा—'तुम्हें क्या पढ़ायेगा कोई, तुम तो आप ही सब पढ़ बैठे हो।'

बाबू साहब झल्लाकर बोले—'तुम्हारे मारे नाक में दम है। तुम्हारी जो बातें हैं, सब बे-सिर-पैर की, न इधर चलती हो न उधर।'

'मेरी बातें तो सब बे-सिर-पैर की होती हैं! और तुम्हारी तो सब अजूबा होती हैं?'

'भई, जी न खाया करो, कहो घर में आया करूं, कहो न आया करूं।'

'हां, घर में क्यों आओगे? यहां तुम्हारा बैठा ही कौन है?'

चोखेलाल ने लालटेन उठाई, और बाहर जाकर अपने कमरे में प्रवेश किया। लालटेन एक ओर रखकर उन्होंने एक लम्बी सांस ली, कपड़े उतारे और तख्त पर पड़ी हुई चटाई पर लेटकर छत की ओर शून्य दृष्टि से ताकने लगे। आज उन्हें नवयौवन के उन दिनों की बात याद आने लगी, जब वे एक ऐसी संगिनी की कल्पना करते थे, जो जीवन-पथ पर उन के कंधे से कंधा मिलाकर चल सके। जिन स्वप्नों की सृष्टि में यौवन की सारी शक्ति खर्च हो जाती है और कदाचित् जिन की पूर्ति के द्वारा मनुष्य को अक्षय आनन्द प्राप्त हो सकता, वे इतने अनित्य क्यों हैं? उस आत्म-वेदना की दशा में इस प्रश्न पर विचार करते करते उन्हें ऐसा ज्ञात होने लगा मानो संसार में उन का जन्म व्यर्थ हुआ। उन के अन्तर्देश में जीवन के प्रति उदासीनता का तिमिर छा गया।

कार्य-सिद्धि के लिए रामप्यारी ने जिस उपाय की शरण ली थी उस के अनौचित्य का अब उसे ज्ञान हुआ; किन्तु अपनी भूल से उसे पश्चात्ताप नहीं हुआ, पति पर क्रोध आया। विजयी-सैनिक पराजित शत्रु की किसी अवहेलना पर ध्यान नहीं देता; किन्तु असफल एक-एक बात याद करता है और खीझ उठता है। क्या स्त्री की मान रक्षा करना पति का धर्म नहीं? फिर वे पग-पग पर उस की अवहेलना क्यों करते हैं, सीधे-मुंह बात क्यों नहीं करते? रामप्यारी रोटी सेंक रही थी। कुछ रोटियां जल गईं, कुछ कच्ची

रह गई। जैसे-तैसे खाना बनाकर वह रसोई से बाहर निकली, स्नान किया, साड़ी बदली, और सहन में पड़ी हुई चौकी पर बैठकर पति की प्रतीक्षा करने लगी; किन्तु जब इस तरह पंद्रह मिनट बीत गए और शत्रु की ओर से संधि का कोई प्रस्ताव न हुआ तब स्वयं झुकना उचित जान पड़ा। उसे भय हुआ कि कहीं वे बिना खाए ही न सो जायं। एक मिनट में वह बाहरी बैठक में थी।

'आज खाना न खाओगे क्या?'

'नहीं' दीवार की ओर मुख किए हुए चोखेलाल ने उत्तर दिया।

'क्यों?'

'भूख नहीं है।'

'क्यों भूख नहीं है?'

'ऐसे ही।'

'तो क्या बिलकुल न खाओगे?'

'नहीं।'

'अच्छी बात है न खाओ।'

आवेश में आकर रामप्यारी कमरे से बाहर चली गई। वह जानती थी कि भूख न होने की बात एक-दम झूठ है, किन्तु इस समय अनुनय-विनय न कर सकी। इस समय विशेष नम्रता दिखानी अपनी हेठी कराना होता। क्या उसे पति से शिकायत का मौक़ा न था? उसे ऐसा जान पड़ने

लगा, मानों इस समय उस का घोर अपमान किया गया। रामप्यारी की आंखों में आंसू छलक आए। वह शयनागार में गई, पलंग पर गिर पड़ी और तकिए में मुंह छिपा कर फफक-फफक कर रोने लगी। उस के प्रताड़ित हृदय पर रोष और गर्व के भाव चोटें करने लगे। वे उसे कौन सा सुख दे रहे हैं, जिस का ऐसा कुटिल मूल्य लेते हैं? आज तक एक छल्ला भी नहीं दिया, जो गहने मायके से लाई थी उन्हें भी तो नहीं पहनने पाती! फिर उन्हें किस बात का तमतमा है? उसे ऐसे पति को सौंप कर उस के माता पिता ने उस पर कैसा घोर अन्याय किया!

चोखेलाल का विचार था कि रामप्यारी अनुनय करेगी, इसी लिए उन्होंने अन्यमनस्कता का भाव धारण किया था। यह बात न थी कि उन्हें भूख न रही हो, पेट में चूहों की दौड़ बराबर जारी थी, किन्तु रूठा हुआ बालक बिना मनाए कैसे घर जाय? पांसा उलटा पड़ा। उस ने विनय न की, यों ही चली गई। तब उन्हें स्त्री के अन्तिम वाक्य याद आए—'अच्छी बात है, न खाओ।' इन वाक्यों में जो चेतावनी छिपी हुई थी, उस में सन्धि स्थापन की इच्छा नहीं, बल्कि पुनर्द्वन्द्व की चुनौती थी, चोखेलाल उन आने वाले दिनों की कल्पना कर के उठे। जब वे एक ही घर में बेगानों की तरह रहेंगे, जब रामप्यारी एक ओर जायगी और वह दूसरी ओर, जब इच्छा रहते हुए भी वे एक दूसरे से वार्तालाप न कर सकेंगे, जब

घर की शान्ति भी उठ जायगी और गृहस्थी एक-दम चौपट हो जायगी।

दस मिनट के बाद चोखेलाल शयनागार के सामने गए। रामप्यारी का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कमरे में प्रवेश करते समय उन्होंने खुले हुए किवाड़ को धक्का दिया, किन्तु वह दीवार की ओर मुख किए हुए लेटी ही रही, हिली भी नहीं। चोखेलाल समझ गए कि वह सो नहीं रही है। वह एक क्षण कमरे के मध्य में खड़े-खड़े पलंग पर मुंह के बल पड़ी हुई रामप्यारी की ओर देखते रहे, फिर धीरे-धीरे मुस्कराते हुए उस पलंग की ओर बढ़े जिस पर नन्हा शिशु रमेश बाल्यकाल की मीठी नींद के मज़े ले रहा था। पलंग के निकट पहुंच कर चोखेलाल ने चुटकी काटी। रमेश चीख उठा। रामप्यारी फिर भी जैसी की तैसी पड़ी रही। रमेश को गोद में लेकर चोखेलाल उसे चुमकारने और थपकियां देने लगे, फिर रामप्यारी के पलंग पर जा बैठे। रमेश पिता की गोद से उतर कर माता की ओर रोता हुआ लपका और मां की पीठ से लिपट कर उछलने लगा। रामप्यारी ने दीवार की ओर करवट ली और दाहिना हाथ पीछे ले जाकर रमेश को खींच लिया। मां के पास जाते ही रमेश शांत हो गया। स्त्री के कंधे पर हाथ रखकर पतिदेव ने पूछा—'खाना न खिलाओगी, रमेश की मां?'

पति का हाथ झिटक कर रामप्यारी ने रुंधे हुए कण्ठ से

कहा—'मुझे तुम्हारे खाने की जरूरत नहीं है।'

रामप्यारी को बलपूर्वक अपनी ओर खींचकर चोखेलाल ने देखा, उस की आंखों से अश्रु धाराएं बह रही हैं। तब उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया और अपनी धोती के कोर से उस के आंसू पोंछते हुए बोले—तुम तो ज़रा-ज़रा-सी बात में रोने लगती हो।

रामप्यारी ने सिसकते हुए कहा—आद्-मी इत...नी हंसी कर...ता है कि हंसी आ...ये न कि......!

'छेड़ा तो पहले तुम्हीं ने था ?'

रामप्यारी चिढ़ कर तीव्र स्वर में बोली—'मैंने तो नहीं तुम ने ही पहले छेड़ा था।'

मामला फिर बढ़ता देख कर चोखेलाल ने नीति से काम लिया—'खैर, जाने दो, मेरा ही क़सूर सही। इन बातों में क्या रक्खा है ?'

'मैं तो कुछ नहीं कह रही हूं। तुम्हीं फिर छेड़ रहे हो, और अभी फिर मुझी को दोषी ठहराओगे।'

'अच्छा बाबा, मैं अपना क़सूर मान लेता हूं। सारा दोष मेरा है, तुम बिलकुल निर्दोष हो, अब तो खुश हुई ?'

विजय-गर्व से रामप्यारी की आंखें चमकने लगीं, और उस के मुख-मण्डल पर एक दिव्य-मुसकान नृत्य करने लगी। समझौता हो गया !

घर में फिर शान्ति राज्य करने लगी। भोजन हो चुका

था, चोखेलाल घर में बैठे हुए हुक्का पी रहे थे। इस समय उन की दशा उस जवान मांझी की सी थी जो अपनी छोटी-सी डोंगी में बैठा हुआ डांड चलाता और मलार गाता हो! उन के चेहरे से आनन्द और सन्तोष की रेखाएं प्रस्फुटित हो रहीं थीं। रामप्यारी रमेश को लेकर आई, और उसे पति की गोद में बिठा दिया। चोखेलाल बच्चे के साथ खेलने लगे, कभी उसे चूमते, कभी उछालते, कभी हंसाते। रमेश भी कभी हुक्के की निगाली के सहारे खड़े होने की कोशिश करता, कभी पिता की मूंछे पकड़ कर खींचता, कभी किलकारियां मारता हुआ माता की ओर लपकता। रमेश को अंचल से ढक कर रामप्यारी ने कहा—कल मेला देखने के लिए क्या कहते हो? लिवा चलोगे न?

फिर वही बात छिड़ गई! किन्तु सांप का काटा रस्सी से भी डरता है। चोखेलाल ने इस बार नम्रता से कहा—'लिवा चलने को तो मैं तैयार हूं, लेकिन मेरी समझ में औरतों का मेले पर जाना ठीक नहीं होता। और फिर इस साल झगड़ा हो जाने का भी डर है।'

'सभी तो जा रहे हैं। प्यारेलाल का सारा घर जा रहा है। कोई मेरा ही झब्बा नोच लेगा?'

'अगर दूसरे भाड़ में कूदें, तो तुम भी कूदो! यह कहां की बुद्धिमानी है?'

'चाहे जो हो, मैं तो ज़रूर जाऊंगी।'

'अच्छी बात है, चलो। तुम तो हमेशा अपने मन की करती ही हो।' रामप्यारी की इच्छा-शक्ति से युद्ध करने के लिए चोखेलाल के पास न तो अब साहस था न बल।'

चोखेलाल बड़े धर्म-संकट में पड़ गए। एक ओर चिर-सञ्चित सिद्धान्त था, दूसरी ओर स्त्री की मान-रक्षा का विचार। एक से जगहंसाई थी, दूसरे से मुंह मोड़ने में नित्य की बमचख, आए दिन के ताने और उलहने। बाह्य संसार में परास्त होने पर घर में शरण मिल सकती है, किन्तु घर के निर्वासित को बाहर कोई नहीं पूछता। वे कोई ऐसा सुगम उपाय सोचने लगे, जिस से न सिद्धान्त की अवहेलना हो, न रामप्यारी की।

(२)

विजयादशमी का दिन था। दिन के तीन बजे थे। इक्कों के अड्डे पर बाबू चोखेलाल एक इक्केवाले से किराया तय कर रहे थे। इक्केवाले ने कहा—'बाबू साहब, बारह आने से कम न होगा। जी चाहे चलिए, न जी चाहे न चलिए।'

'बारह आने तो, भाई बहुत होते हैं। आठ आने लो।'

'नहीं, बाबू, आज बारह आने से कम नहीं हो सकता।'

इतने में एक साहब दूर ही से 'इक्केवाले, चौक चलोगे? चौक चलोगे?' की हांक लगाते हुए आते दिखाई दिए। निकट पहुंच कर आगन्तुक सज्जन ने चोखेलाल को

नमस्कार किया। चोखेलाल ने नमस्कार का उत्तर दिया। तब आगन्तुक महाशय ने दांत निकाल कर पूछा—'कहां की तैयारी है, जनाब?'

चोखेलाल ने मुंह बनाकर उदासीनता से कहा—'जरा हकीमजी के यहां जाना है।'

'क्यों, क्यों? भई, खैरियत तो है?'

'घर में कुछ तबीयत खराब हो गई है।'

चोखेलाल की ओर एक बार अविश्वास से देख कर वे महाशय आगे बढ़े, और एक दूसरे इक्के वाले से बातें करने लगे। चोखेलाल की जान छूटी। एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ कर वे इक्के पर सवार हुए, और घर की ओर चले। वे नव युग के क्रान्तिकारी के अनुयायी अवश्य थे, किन्तु इस समय उन के हृदय में शक जगह करने लगा। इस मुठभेड़ में उन्हें भावी अमंगल की सूचना दिखाई देने लगी।

राम-दल निकलने का समय हो गया था। सब्ज़ीमण्डी के आस-पास कुछ गुण्डे, बुले बदले, लट्ठ लिए, पान चबाते हुए कानाफूसी करते दिखाई देते थे। जिन सड़कों पर हो कर दल निकलने वाला था उन पर इस समय ऐसी भीड़ थी कि दुर्बल मनुष्य एक बार उस में फंस कर न हिल-डोल सकता था, न बाहर ही निकल सकता था। नगर के हिन्दुओं की सारी धार्मिकता सिमिट कर इस भीड़ में आ गई थी। जो हिन्दू मत-भेद के कारण इस में सम्मिलित न थे, वे

इन धर्मावलम्बियों की दृष्टि में, या तो पक्के नास्तिक थे या 'किरस्टान'!

जब प्रतीक्षा करते-करते दर्शकों की शांति का अंत हो गया, तब दल निकला। जयकारों की गगन-भेदी ध्वनि चारों ओर गूंजने लगी। इस वर्ष कोई नई बात न थी। वही घोड़े थे, वही ऊँट थे, वही चौकियां, वही बाजे, वही हाथी। जिस हाथी पर रामचन्द्र जी सवार थे उस पर चारों ओर से निरन्तर पुष्प-वर्षा हो रही थी। फूलों की जो छड़ियां भाग्य-वश महाराज के श्री-चरणों से ढुलककर नीचे गिर पड़तीं, उन पर भक्त-वृन्द इस प्रकार गिरते थे मानो रत्नों पर टूट रहे हों।

दल निकल गया। रामप्यारी का हाथ पकड़े हुए बाबू चोखेलाल हकीम निहालचन्द की ऊंची छत से नीचे सड़क पर उतर आए। यहां अभी काफ़ी भीड़ थी। इक्का लाने की गुंजाइश न थी, न देर हो जाने पर सवारी पाने की आशा, इसलिए इसी समय अड्डे की ओर चलना तय पाया। आगे-आगे भीड़ चीरते हुए चोखेलाल चले जाते थे और पीछे-पीछे रमेश को गोद में लिए, पति का हाथ पकड़े हुए रामप्यारी। दोनों धक्के पर धक्का खा रहे थे। अभी वे सौ क़दम गए होंगे कि सहसा उन्हें सैकड़ों आदमी गलियों से निकल-निकलकर इधर-उधर भागते हुए दिखाई देने लगे। इन्हीं भागते हुए आदमियों में वे लोग भी दिखाई देते थे, जो अभी थोड़ी देर पहले दल के साथ लट्ठ उछालते, अकड़ते चले जाते थे।

चारों ओर चिल्लाहट शुरू हो गई—

भागो, भागो ! चल गई, चल गई ! हिन्दू-मुसलमान में चल गई ! पीछे से भीड़ का रेला आया और रामप्यारी के हाथ से पति का हाथ छूट गया। डूबते हुए तैराक का सहारा छिन गया।

रामप्यारी मसल उठी, उस के पैर लड़खड़ाने लगे, चक्कर सा आने लगा, और निकट था कि नीचे गिर जाए और सहस्रों बदहवास पैरों के नीचे पड़कर कुचल जाए कि सहसा उसे एक दीवार का सहारा मिल गया। वह दीवार से सट-कर खड़ी हो गई और भयातुर नेत्रों से भागते हुए मनुष्यों में पति को खोजने लगी। उस के सूखे हुए मुख से बार बार निकल रहा था,—'हाय राम ! अब क्या करूं ?' शिशु रमेश जाग पड़ा, और माता के गले से लिपट कर आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगा। इस प्रकार के धार्मिक झगड़ों में अबलाओं पर बदमाशों द्वारा किए गए अत्याचारों की भयोत्पादक कथाएं रामप्यारी सुन चुकी थी। आज ऐसी शोचनीय परिस्थिति में पड़कर उस की दुष्कल्पना जाग्रत हो गई और उन अतीत दुर्घटनाओं के भयावह दृश्य उस के नेत्रों के सम्मुख फिरने लगे।

चोखेलाल का कहीं पता न था। हताश होकर, हृदय को मज़बूत कर के, मन ही मन ईश्वर से प्रार्थना करती हुई, रामप्यारी बचाव का उपाय सोचने लगी। सामने सेठों की

कोठियां थीं, किन्तु वहां शरण मिलने की आशा न थी; सब के फाटक बन्द थे। सहसा उस की बाईं ओर दृष्टि गई, एक पतली सूनी गली दिखाई दी। उसे ऐसा ज्ञात हुआ मानों ईश्वर ने उस के दुःख निवारणार्थ मार्ग निकाल दिया हो। उस के हृदय से एक बोझ सा उठ गया, पैरों में पर लग गए। भीड़ अब छंट गई थी। वह शीघ्रता से गली में घुसी। थोड़ी दूर पर उसे रोशनी दिखाई दी। वह ठिटक गई। आगे बढ़ना ठीक है या नहीं? न जाने शत्रु हों कि मित्र। किन्तु न बढ़ने में भी न भलाई थी, गली में कोई बदमाश घुस आया तब? फिर वह जी कड़ा कर के धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी।

(३)

भीड़ के रेले में पैर उखड़ जाने पर कठिनाई से जमते हैं। बाबू चोखेलाल ने जब होश संभाला तब मण्डी के पास थे। उन्होंने देखा—सड़क के मोड़ पर कुछ मुसलमान गुण्डे खड़े हुए हैं और जो इक्के-दुक्के आदमी घबराहट में उधर निकल पड़ते हैं उन पर लाठियों की वर्षा होने लगती हैं। बाबू साहब उलटे पैर भागे और बड़ी कठिनाइयों के बाद किसी तरह उस स्थान पर पहुंचे जहां रामप्यारी से साथ छूट गया था; किन्तु इस समय रामप्यारी यहां कहीं न थी। वे भय और दुविधा स कांप उठे। उन का दिल बैठने लगा, आंखों के सामने अंधेरा छा गया। वह वहीं ज़मीन पर बैठ गए।

सहसा एक ओर घोड़े के टापों का शब्द हुआ। चोखे-

लाल ने सिर उठा कर देखा, मुन्शी दीनदयाल जो अभी दल के आगे-आगे थे भागे जा रहे थे। चोखेलाल ने चिल्ला कर कहा—'महाशय! ज़रा सुनते जाइए। मैं बड़ी मुसीबत में हूं, मेरी मदद कीजिए।'

मुन्शी जी ने एक बार मुड़ कर देखा, और घोड़ा तेज़ कर दिया। किसी ने पीछे से कहा—'यह है हमारे नेताओं का हाल! अभी ज़रा देर पहले कैसे जोम में थे. लेकिन झगड़ा होता देखा और दुम दबाकर भाग निकले! भइया! वह रुकने वाले नहीं हैं, अब यहां लीडरी थोड़े ही करनी है।'

चोखेलाल ने पीछे फिर कर देखा, एक दीर्घकाय, कसरती आदमी सिर से पैर तक खद्दर पहिने, लट्ठ लिए खड़ा हुआ है। उस के दाहिने और बाएं कई जवान बड़ी बड़ी लाठियां लिए खड़े हुए थे। उन के चेहरों से शौर्य, आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्प टपक रहा था। उस टोली के सरदार ने कहा—'क्या है, महाशय! मुझ से कहिए।'

चोखेलाल एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ कर बोले—'भाई! क्या पूछते हो? स्त्री की हठ का मारा हुआ मनुष्य हूं। घर में मेला देखने के लिए ज़िद कर रही थी। मैंने बहुत समझाया, मगर वह अपनी ज़िद पर अड़ी रही। लाचार, और कोई उपाय न देख दल दिखाने लाया था। लौटते समय मैं भीड़ के रेले में पड़ गया और वह पीछे छूट गई। अब उस का

कहीं पता नहीं चलता। कहां ढूंढूं क्या करूं, कुछ समझ में नहीं आता।'

'नारायन! नारायन! यह तो बड़ा अनर्थ हुआ। इस समय सारे शहर में आग धधक रही है। ऐसे बुरे समय एक असहाय हिन्दू अबला का यों अकेली रह जाना तो बहुत बुरा हुआ।'

'भाई! मैं तो लुट गया, कहीं का न रहा।'

सरदार ने सान्त्वना दी—'खैर, आप चिन्ता न करें। इन वीरों को देखिए। यह मेरे पसीने की जगह खून गिराने वालों में हैं। आप की इज़्ज़त हमारी इज़्ज़त है। अगर एक भी हिन्दू स्त्री का सतीत्व नष्ट हुआ, तो सारी हिन्दू-जाति की लाज गई। और यह धर्म पर मिटने वाली वीर जाति की लाज जाते नहीं देख सकते। बहादुरो, आओ।'

होरीलाल और उस के वीर अनुयायी चोखेलाल को साथ लिए हुए सारी रात गलियों में चक्कर काटते रहे। जहां कहीं आहट मिलती छिपकर सुनने लगते। कई स्थानों पर मुसलमानों से मुठभेड़ हुई। इन अवसरों पर वे ऐसे-ऐसे हाथ दिखाते कि विपक्षियों के छक्के छूट जाते थे। उन के द्वारा कितने ही भूले-भटके पथिकों की प्राण रक्षा हुई, कितने ही घर लुटते-लुटते बचे, किन्तु उन का कार्य सिद्ध न हुआ। इस तरह सारी रात खोजने पर भी रामप्यारी का कहीं पता न लगा।

सवेरा हुआ। पूर्वाकाश में सूर्य ने लाल आंख निकाली,

मानों कोई स्नेही पिता अपने बच्चों को व्यर्थ झगड़ते देख कर क्रोध प्रकट कर रहा हो! हताश, मनोवेदना से आन्दोलित चोखेलाल होरीलाल के घर गए। इस समय वे अपने घर जाने का साहस न कर सके। मित्रों और पड़ोसियों से कैसे आंख मिलाएंगे, उन के प्रश्नों का क्या उत्तर देंगे, उस घर में कैसे पैर रक्खेंगे जिस का सब कुछ लुट गया? यह बाधाएं कम न थीं। स्त्री और बच्चे की भोली सूरतें उन की आंखों में फिर कर कलेजे पर चोटें करने लगीं।

शाम होते-होते सारे शहर में सशस्त्र सैनिकों का पहरा बैठ गया। अधिकारियों की ओर से नगर-भर में मुनादी हो गई कि कहीं भीड़ जमा न हो, और सायंकाल छः बजे के बाद कोई घर से न निकले। लेकिन हिन्दू-मुसलमान तो एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे, उन्हें इस मुनादी की क्या परवा थी। यदि सड़कों पर न लड़ पाते, तो गलियों में हाथ चलाते थे। वर्षों की ज़ङ्ग खाई हुई तलवारें और छुरियां निकाली जा रही थीं। कोतवाली में शव पर शव चले आते थे, किन्तु कुछ पता न चलता था कि किस ने मारा, कहां मारा!

तीन दिन लड़ाई का बाज़ार गर्म रहा। दोनों पक्षों ने जी खोल कर हौसला निकाला, पुराने झगड़े नए किए गए, मुद्दतों के बदले चुकाए गए। इस विकट हत्याकाण्ड में कितने मनुष्य जान से मारे गए, कितने ज़ख्मी हुए—इस का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन था। इस बीच में चोखेलाल

बराबर होरीलाल के घर ठहरे रहे। होरीलाल रामप्यारी को ढूंढ़ निकालने में अभी तक असफल रहे; किन्तु निराश नहीं हुए थे। वे चोखेलाल को नित्य आश्वासन देते—'बाबू साहब! आप निश्चिन्त रहिए। एक-एक बदमाश का घर खोदकर फेंक दूंगा, या तो उन का पता लगाऊंगा या प्राण दे दूंगा।'

चौथे दिन की बात है। दिन का तीसरा पहर था। और दिनों की तरह आज भी चोखेलाल होरीलाल को लेकर कोतवाली पहुंचे। विचार था, कदाचित् आज कुछ पता लगे। कोतवाली में इस समय भी फ़रियादियों की भीड़ लगी हुई थी। चोखेलाल और होरीलाल भी एक कोने में खड़े हो गए। सब की शिकायतें रोज़नामचे में दर्ज की जाती थीं; किन्तु उन्हें यह देखकर आश्चर्य और दुःख होता था कि इन शिकायतों पर कोई विशेष कार्यवाही नहीं की जा रही थी और कर्मचारियों के पास उन अन्याय-पीड़ित फ़रियादियों के लिए व्यंग्य के अतिरिक्त और कुछ न था। इस प्रकार आधा घंटा बीत गया। चोखेलाल को नैराश्य घेरने लगा। सहसा उन्होंने देखा, एक बूढ़ा मुसलमान, सामान्य वस्त्र पहने, एक छोटे-से बच्चे को कंधे पर बैठाले हुए फाटक के भीतर घुसा। उस के पीछे-पीछे एक स्त्री सिर से पैर तक सफ़ेद चादर ओढ़े हुए चली आ रही थी। चोखेलाल ने एक क्षण नवागन्तुकों को ध्यान से देखा, फिर उन की ओर वेग से लपके।

बूढ़े मियां ने रमेश को चोखेलाल की गोद में देकर

मुस्कराते हुए कहा—'जनाब ! ये तीन रोज़ मेरे मेहमान रहे, आप को एहसास नहीं हो सकता कि अपने मेहमान को रुख़सत करने में मुझे किस क़दर रूहानी तकलीफ़ हो रही है; लेकिन मुझे इस बात की खुशी है कि आप की अमानत आप को सुपुर्द कर रहा हूं।'

चोखेलाल की आंखों में आंसू छलक आए। होरीलाल झपटे और बड़े मियां के गले से लिपट गए, फिर कण्ठावरुद्ध होकर बोले—'मियां साहब ! इतने बड़े नगर में आप ही एक आदमी हैं, जिस ने धर्म का असली मतलब समझा है। आप सच्चे मुसलमान हैं ! आप को धन्य है !'

वहां सैकड़ों आदमी खड़े थे, सभी के मुख में प्रशंसा थी–'वाह, वाह ! शराफ़त इसे कहते हैं—दूसरे की बहन-बेटी को अपनी बहन-बेटी समझना !'

सब के पीछे अलग, खड़ी हुई रामप्यारी चादर के भीतर ही भीतर आंखें पोंछ रही थी। इस समय उस के हृदय में आह्लाद था, कृतज्ञता थी, पश्चात्ताप था।

बूढ़े मियां ने यह बयान दिया—'मेरा नाम रमज़ान अली है। मैं क़रीब ही रहता हूं, जिल्दबन्दी का काम करता हूं। जिस दिन झगड़ा शुरू हुआ, उस दिन शाम को मैं अपने घर में बैठा हुआ सितार बजा रहा था। एकाएक बाहर शोर-गुल सुनाई देने लगा। मैंने सितार बन्द कर दी और लालटेन लेकर बाहर निकला। मैं बाहर चबूतरे पर आया ही था

कि एक शरीफ़ घराने की औरत बग़ल में एक बच्चा लिए हुए सहमी हुई गली में दाख़िल हुई। वह औरत थोड़ी दूर पर रुक गई। मैं चबूतरे से नीचे उतरा और करीब जाकर पूछा—'किसे ढूंढ़ती हो?' उस ने कुछ जवाब नहीं दिया। तब मैंने कहा—'बेटी! डरो नहीं, बताओ क्या मामला है?' उस ने डरी हुई आवाज़ में कहा—'मैं अपने पति के साथ मेला देखने आई थी। हम लोग घर लौटे जा रहे थे। इतने में झगड़े का शोर सुनाई दिया, फिर भीड़ में उन का साथ छूट गया।' वह नेकज़ात ख़ातून यही बाबू चोखेलाल साहब की बीबी मुसम्मात रामप्यारी देवी थीं। मैं इन्हें समझा-बुझा कर अपने घर लिवा ले गया। मेरे घर में तीन दिन रहीं। मैंने अपने एक हिन्दू दोस्त के ज़रिये इन के खाने पीने का प्रबन्ध करा दिया, वह हिन्दू साहब इन्हें अपने घर में जगह देने के लिए तैयार थे, लेकिन इन्होंने मेरे यहां ही रहना पसन्द किया। मैंने और मेरी स्त्री ने इन के मज़हबी ख़्यालात की पूरी इज्ज़त की। झगड़े की वजह से अभी तक मैं इत्तला नहीं कर सका था।'

सन्ध्या-समय बाबू चोखेलाल की मित्र-मण्डली उन के घर पर जमा हुई। सब ने बाबू साहब के प्रति सहानुभूति प्रकट की। बड़ी रात तक रमज़ान की प्रशंसा होती रही, और राजकर्मचारियों के कुप्रबन्ध की कड़ी आलोचना। मित्रों को बिदा कर के दस बजे के लगभग चोखेलाल अन्दर गए। रामप्यारी लोटे में जल लेकर समीप आई। हाथ-मुंह धोकर चोखेलाल

ने रसोई घर में प्रवेश किया। रामप्यारी खाना परोसने लगीं।

चोखेलाल ने मुस्कराते हुए पूछा—'फिर मेला देखने जाओगी ?'

रामप्यारी ने पति के मुख की ओर घूर कर देखा, फिर दृढ़ता से बोलीं—'हां जाऊंगी, ज़रूर जाऊंगी, अगर ऐसे देवता से फिर भेंट हो सके।'

वार खाली गया ! एक क्षण चुप रह कर चोखेलाल ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा, फिर सिर हिलाते हुए कहा—'ऐसे साधु-चरित्र आदमी नित्य नहीं मिलते।'

'तो फिर मेला भी हो चुका। इन तीन दिनों में मैंने वह देखा है, जो फिर देखने को आंखें तरस जाएंगी। मुझे तो यह तअज्जुब होता है कि कोई ग़ैर के साथ कैसे इतनी मुहब्बत दिखा सकता है। उन लोगों ने मेरी कितनी ख़ातिर की, मेरे लिए घर का एक हिस्सा ख़ाली कर दिया, एक हिन्दू पड़ोसी के यहां से बर्तन ले आए, हर समय पूछते रहते थे, किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं है बेटी ? इतनी ख़ातिर कोई अपना कुटुम्बी भी न कर सकता।'

चोखेलाल सिर झुकाकर भोजन करने लगे।

(४)

रमज़ान अली चोखेलाल के घर के से आदमी हो गए। वे उन के यहां सप्ताह में दो बार अवश्य जाते और जब जाते,

तो रमेश के लिए कोई न कोई खिलौना अवश्य लेते जाते। रामप्यारी बहुत मना करती, किन्तु वे न मानते। खिलौनों का एक अच्छा ढेर लग गया था।

आज चोखेलाल के घर जाते समय रमज़ान ने बाज़ार में एक नया जापानी खिलौना देखा, चट ख़रीद लिया।

दरवाज़े के बाहर से रमज़ान ने आवाज लगाई—रमेश! भइया रमेश!

रामप्यारी ने अन्दर से कहा—'चले आइए अब्बा! दरवाज़ा खुला है।'

रमज़ान ने घर में प्रवेश किया। जल्दी से सहन में पलंग बिछाकर रामप्यारी रमज़ान के पैर छूने को बढ़ी।

'यह क्या करती हो, बेटी?'

रामप्यारी ने इस आपत्ति पर कुछ ध्यान न दिया। तब आशीर्वाद देकर रमज़ान पलंग पर बैठ गए। खिलौने की ओर देखकर रामप्यारी ने कहा—'अब्बा! क्यों फ़िज़ूल पैसा बर्बाद करते हो? खिलौने तो ढेरों रक्खे हैं।'

रमज़ान ने कुछ उत्तर न दिया। रामप्यारी ताड़ गई कि उस का बार-बार मना करना उन्हें बुरा लगता है। वह कमरे में गई और रमेश को उठा लाई। रमज़ान को देखते ही रमेश उन की गोद में उतर पड़ा और उन की सफ़ेद डाढ़ी से खेलने लगा। फिर खिलौना देखते ही उन की गोद से उतर कर उस की ओर लपका।

रामप्यारी ने सकुचाते हुए पूछा—'अब्बा, एक बात पूछूं, बताओगे ?'

'क्या है, बेटी ?'

रामप्यारी ने दीवार के सहारे खड़ी-खड़ी कहा—'आप ने उस दिन हमारी मदद क्यों की थी ? आप के जात वाले तो हम लोगों से कीना रखते हैं।'

रमज़ान ने रमेश को अपनी गोद में ले लिया और उस के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटी, इसका जवाब तो रमेश ही दे सकता है। मेरे इस नन्हे बादशाह से पूछो। इसी ने उस दिन मेरे ऊपर जादू डाला था। इसी ने मुझे शराफ़त का सबक़ दिया, वर्ना मैं तो बुराइयों में फंसा हुआ आदमी हूं। बेटी ! तुम समझती हो, मैं पैसा बर्बाद करता हूं; लेकिन तुम्हारा यह ख़याल ग़लत है। मैं तो अपने बादशाह को नज़रें देता हूं। बीस साल हुए, मेरा हामिद मुझ से छीन लिया गया था। लेकिन मैं खुशनसीब हूं कि मेरा खोया हुआ बादशाह उस दिन मुझे फिर वापस मिल गया। मेरे जादूगर ! मेरे बादशाह !'

स्नेह-विह्वल होकर रमज़ान रमेश को बार-बार चूमने लगे। अनन्त पथ पर भटकता हुआ बटोही अपने खोए हुए साथी को पाकर स्वर्गिक आह्लाद से आन्दोलित हो उठा। कल और आज का मध्यवर्ती समय आज की सत्प्रेरणा से प्रभावान्वित होकर विस्मृति के वक्ष में विलीन हो गया।

रामप्यारी का हृदय कृतज्ञता से भर गया। उस की आंखों में श्रद्धा और भक्ति के आंसू छलकने लगे। उसे ऐसा ज्ञात होने लगा मानों रमज़ान इस संसार का नहीं, किसी दूसरे दिव्य लोक का निवासी है।

फिर रमज़ान की ओर देखते-देखते उसे ऐसा जान पड़ा, मानो वृद्धावस्था के उस विकृत रूप में सरल निर्बोध शैशव किलकारियां मार रहा है! उस समय उस का नारी-हृदय अगाध मातृ-वात्सल्य लेकर रमज़ान और रमेश की ओर वेग से प्रवाहित हो चला।

और मनोहर ?...नहीं, वह कुटी में नहीं रहेगा, बाहर खड़ा खड़ा भाड़ में पत्ते झोंकेगा। जब वह हार जाएगा, बहुत कहेगा, तब मैं उसे अपनी कुटी के भीतर ले लूंगी।

मनोहर उधर अपने पानी से हिल-मिल कर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहां अकारण ही उस पर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी—'मनोहर कैसा अच्छा है, पर वह दंगई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अब के दंगा करेगा; तो हम उसे कुटी में साझी नहीं करेंगे। साझी होने को कहेगा, तो उस से शर्त करवा लेंगे, तब साझी करेंगे।' बालिका सुरबाला सातवें वर्ष में थी। मनोहर कोई दो साल उस से बड़ा था।

बालिका को अचानक ध्यान आया—'भाड़ की छत तो गरम होगी। उस पर मनोहर रहेगा कैसे ? मैं तो रह ऊंगी। पर मनोहर तो जलेगा। फिर सोचा—उस से मैं ह दूंगी भई, छत बहुत तप रही है; तुम जलोगे, तुम मत ओ। पर वह अगर नहीं माना ? मेरे पास वह बैठने को आया ही—तो ? मैं कहूंगी—भाई, ठहरो, मैं ही बाहर आती हूं।...पर वह मेरे पास आने की जिद करेगा क्या ? ज़रूर करेगा, वह बड़ा हठी है।...पर मैं उसे आने नहीं दूंगी। बेचारा तपेगा—भला कुछ ठीक है ! ज्यादा कहेगा, मैं धक्का दे दूंगी, और कहूंगी—अरे, जल जायगा मूरख ! यह सोचने

पर उसे बड़ा मज़ा सा आया, पर उस का मुँह सूख गया। उसे मानों सचमुच ही धक्का खाकर मनोहर के गिरने का हास्योत्पादक और करुण दृश्य सत्य की भांति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिका ने दो एक पक्के हाथ भाड़ पर लगाकर देखा—भाड़ अब बिलकुल बन गया है—मां जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने नवजात शिशु को बिछौने पर लेटाने को छोड़ती है, वैसे ही सुरबाला ने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींच लिया। इस क्रिया में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती सी जाती थी। उस के पैर ही पर तो भाड़ टिका है, पैर का आश्रय हट जाने पर बेचारा कहीं टूट न पड़े! पैर साफ़ निकालने पर भाड़ जब ज्यों का त्यों टिका रहा, तब बालिका एक बार आह्लाद से नाच उठी।

बालिका एकबारगी ही बेवकूफ़ मनोहर को इस अलौकिक चातुर्य से परिपूर्ण भाड़ के दर्शन के लिए दौड़कर खींच लाने को उद्यत हो गई। मूर्ख लड़का पानी से उलझ रहा है, यहां कैसी ज़बर्दस्त कारगुज़ारी हुई है—सो नहीं देखता! ऐसा पक्का भाड़ उस ने कहीं देखा भी है!

पर सोचा—'अभी नहीं; पहले कुटी तो बना लूं। यह सोचकर बालिका ने रेत की एक चुटकी ली और बड़े धीरे से भाड़ के सिर पर छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेत धीरे-धीरे छोड़कर सुरबाला ने भाड़ के सिर पर अपनी कुटी तैयार कर ली।'